पुस्तक : भगवान महावीर और उनका चिन्तन

निर्देशक : राष्ट्रसन्त आचार्य श्री आनन्दऋषिजी

लेखक : डॉ० भागचन्द्र 'भास्कर'

प्रकाशक : श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर)

प्रथम बार : ई० १९७६ जून
वि० सं० २०३३ ज्येष्ठ
वीर निर्वाण संवत् २५०२

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य : बारह रुपये सिर्फ

समर्पण

अग्रज श्री दुलीचन्द्र नाहर के
कर-कमलों में सादर समर्पित,
जिनकी अथक प्रेरणा और
उत्साह ने मुझे यहाँ तक पहुँचाया।

—भागचन्द्र 'भास्कर'
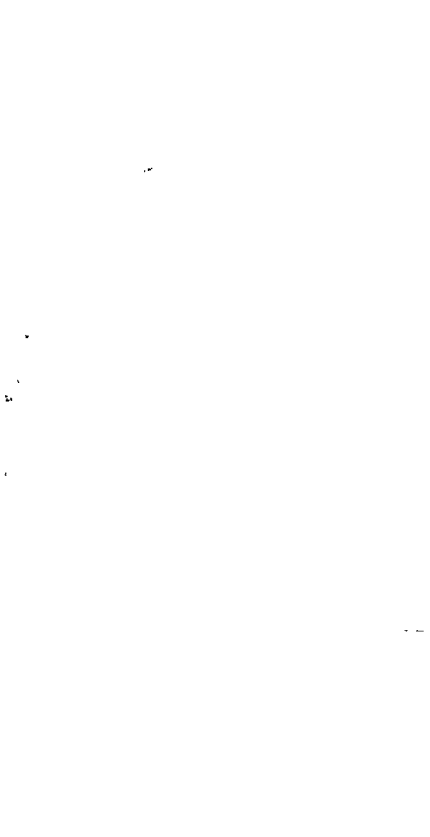
प्रकाशकीय

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जैनधर्म, दर्शन एव सस्कृति से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई। सैकडो लेखको एव विद्वानो ने साहित्य-कला के माध्यम से भगवान महावीर के चरणो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। इस पावन प्रसग पर हमारी प्रकाशन सस्था ने भी 'तीर्थंकर महावीर' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित कर भगवान महावीर के जीवन एव उपदेशो से जनता को परिचित कराने का प्रयत्न किया।

प्रकाशन की इसी शृ खला मे 'भगवान महावीर और उनका चिन्तन' पुस्तक पाठको के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। इस पुस्तक मे विद्वान् लेखक ने भगवान महावीर के जीवन प्रसगो को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। भगवान महावीर एव तथागत बुद्ध सम-सामयिक थे, इसलिए दोनों के जीवन मे घटनाओ की विविधता मे भी एकसूत्रता है। अनेक प्रसग बहुत ही समान एव शैली की दृष्टि से भी एक जैसे हैं, तो कुछ प्रसग बिलकुल एक दूसरे के विरोधी भी हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जैन आगमो में तथागत बुद्ध के विषय मे कोई विशेष उल्लेख नही हैं, और जो हैं वे भी तटस्थ दृष्टि से हैं, जबकि बौद्ध पिटको मे भगवान महावीर के व्यक्तित्व को निम्न दिखाने का प्रयत्न भी हुआ है।

विद्वान् लेखक ने उन प्रसगो को अकित कर उनकी तटस्थ समीक्षा की है, और उसमे से हित-मित-सत्य को ग्रहण करने की जिम्मेदारी पाठक पर छोड दी है।

सभी जिज्ञासु पाठकों के लिए यह तुलनात्मक अध्ययन ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा और भगवान महावीर के निर्मल वीतराग स्वरूप को समझने मे सहायक होगा, ऐसा हमें विश्वास है। कुछ स्थल मतभेद के भी हैं, जिनमे आगे अनुसधान के लिए बुद्धि का द्वार मुक्त रखने की प्रेरणा है।

इस पुस्तक का निर्देशन राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज ने किया। पाडुलिपि तैयार होने के बाद उसका पुनरावलोकन भी किया। प्रसिद्ध विद्वान मनीषी श्री देवेन्द्रमुनि जी ने भी अवलोकन कर अनेक स्थलो पर सशोधन किया है।

प्रेस सम्बन्धी व्यवस्था के साथ-साथ पुस्तक का पुन: निरीक्षण एव सशोधन कर श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ने जो स्नेह-सौजन्य प्रदर्शित किया है उसके लिए भी हम आभारी हैं।

आशा है तुलनात्मक अध्ययन के इच्छुक पाठको के लिए यह पुस्तक कुछ नई सामग्री प्रस्तुत करेगी।

मंत्री
श्री रत्न जैन पुस्तकालय

प्राचीन परम्परा और इतिहास

प्राचीन परम्परा और इतिहास

श्रमण संस्कृति : पूर्वपीठिका

जैनधर्म एक मानववादी धर्म है जो साध्य और साधन—दोनों की पवित्रता में विश्वास करता है। उसने जाति और वर्ग के भेदभाव को दूर कर प्राणिमात्र की शक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इसलिए उसका किसी विशेष काल-खण्ड में प्रारम्भ हुआ, ऐसा नहीं माना जा सकता। उसका तो प्रारम्भ तभी से है जब से मानव इस भू पर अवतरित हुआ है। अतः उसे यदि अनादि और अनन्त कहा जाय तो उचित ही होगा।

ऐतिहासिक तथ्य

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस तथ्य को उद्घाटित करने वाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, साहित्य और नृतत्त्वविज्ञान से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी कोई एक समृद्ध संस्कृति थी जिसे तथाकथित आर्यों ने अनार्य संस्कृति कहकर सम्बोधित किया। यही अनार्य संस्कृति श्रमण संस्कृति कही जाती है। वेद और अवेस्ता में वर्णित घटनाओं के आधार पर विद्वानों ने प्रायः यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्य हमारे भारत में बाहर से ही आये थे। यहाँ आकर उन्हें व्रात्य, असुर, दास और दस्यु जैसी उच्च संस्कृति सम्पन्न जातियों से संघर्ष करना पड़ा। वेदों में उनके विशाल नगरों और पणियों (व्यापारियों) का उल्लेख आता है जिनके साथ आर्यों के अनेक युद्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य विशेषतः ऋग्वेद में उल्लिखित आर्य देवोदास और पुरुकुत्स का युद्ध ऐसा ही था जिसमें उन्होंने आर्येतर जातियों को पराजित किया था। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार के अनेक उद्धरण मिलते हैं।

तथाकथित आर्य-अनार्य संस्कृति के सम्मिश्रित रूप से भारतीय संस्कृति का ढाँचा खड़ा हुआ है। नृतत्त्वविज्ञान के अनुसार जिस प्रथम अनार्य जाति का पता चला है, वह है कृष्णांग (Negrito)। कृष्णांगों की सन्तान आज भी अन्डमान द्वीपों में पाई जाती है। त्रिवन, बर्मा, बलोचिस्तान में भी उसके चिह्न मिलते हैं। कृष्णांग जाति के बाद भारत में पूर्व की ओर से आग्नेय (Austric) जाति आई। उसकी भाषा, धर्म और संस्कृति का रूप हिन्द-चीन और प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में उपलब्ध होता है। यह रूप कुछ तो कृष्णांग जाति में अन्तर्भुक्त हो गया और कुछ खासी, कोल, मुण्डा, संथाल, मुन्डारी, कुर्कु और शबर जातियों के रूप में शेष रह गया। बाद में तो ये जातियाँ उत्तर-मध्य भारत और दक्षिण-पश्चिम भारत में भी फैल गईं। आर्य और

आग्नेय संस्कृति के बीच जो आदान-प्रदान हुआ उससे आध्यात्मिक, सामाजिक और
आर्थिक पहलू मजबूत हुए। सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार भारतीय संस्कृति के
निर्माण में आर्यों से भी बहुत पूर्व अनार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।[1]

अनार्य जातियों में द्रविड़ जाति भी अन्तर्भूत है। यह जाति मूलतः पश्चिम
भारत में रहने वाली है। व्यापार आदि के सन्दर्भ में धीरे-धीरे यह जाति दक्षिण भारत
की ओर बढ़ी और बाद में वहीं स्थिर हो गई। तमिल प्रदेश उसी द्रविड़ जाति से
सम्बद्ध है। इस जाति ने दक्षिण में अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। सिन्धु घाटी
जैसे उच्च सभ्यता के निर्माता और लंका, सुमात्रा जैसे द्वीपों की संस्कृतियों के पुरस्कर्ता
द्रविड़ ही थे। जैन संस्कृति में उल्लिखित विद्याधर जाति सम्भवतः द्रविड़ों से सम्बद्ध
रही होगी।

सिन्धु सभ्यता

सिन्धु घाटी के उत्खनन में जिस संस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे सामने
आया है वह निश्चित ही प्राग्वैदिककालीन है। मूर्तिपूजा आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे
यह कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी
द्रविड़ अथवा विद्याधर जाति की सभ्यता से परिबद्ध रही होगी। यह
(बैल) को पूज्य मानती थी जो ऋषभदेव तीर्थङ्कर का चिह्न है। पुरातत्त्वा
अभिमत है कि लोहानीपुर एवं हड़प्पा से प्राप्त एक विशाल कायोत्सर्गिक
ऋषभदेव की होनी चाहिए क्योंकि उसकी आकृति और भाव ऋषभदेव
और ध्यानमुद्रा से शत-प्रतिशत मिलते हैं। रामचन्द्रन और काशीप्रसाद जाय
पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उस मूर्ति को किसी जैन तीर्थंकर की ही मूर्ति होने
सम्भावना व्यक्त की है। इस प्रकार की कुछ मुद्रायें भी वहाँ मिलती हैं जिन
(बैल) का चित्र अंकित है।

अतः यह निःसन्देह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि सिन्धु सभ्य
सभ्यता की प्रतीक नहीं थी प्रत्युत वह वैदिक सभ्यता से पहले की उन्नत द्राविड
थी।[2] डॉ० हेरास और प्रो० श्री श्रीकंठ शास्त्री जैसे विद्वानों ने इस सम
द्राविड़ों अर्थात् जैनसभ्यता स्वीकार किया है।[3]

वैदिक वाङ्मय

वैदिक वाङ्मय प्राच्य संस्कृति के कुशल धरोहर के रूप में सर्वमान्य है।

चौधरी गुलाबचन्द आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति—मुनि हजारीमल स्
ग्रन्थ, पृ० १३९-१४२।
यह स्थापित हो चुका है कि सिन्धु घाटी सभ्यता पूर्ववैदिक उन्नत और सा
द्राविड नागरीय सभ्यता थी।
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० २८।

का यह प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। विशेषतः ऋग्वेद को विद्वद्गण लगभग २००० ई० पू० का स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से यह पता चलता है कि उस काल मे दो संस्कृतियाँ थीं जो प्रथमतः परस्पर संघर्षरत रहीं और बाद में उनमें सौजन्य का वातावरण निर्मित हो गया था। दोनों संस्कृतियों का आर्य और आर्येतर नाम दिया गया। आर्य संस्कृति को वैदिक संस्कृति और आर्येतर संस्कृति को अनार्य अथवा श्रमण संस्कृति कहा गया। जैसा हम पीछे देख चुके हैं, भारत भूमि के मूल निवासी तथाकथित अनार्य संस्कृति के पोषक माने जाते हैं। यही अनार्य श्रमण भगवान ऋषभदेव के अनुयायी जैन हैं।

आर्हत, व्रात्य और वातरशना

वैदिक साहित्य, विशेषतः ऋग्वेद में इस अनार्य संस्कृति अथवा श्रमण संस्कृति की साधना और साधकों से सम्बद्ध विविध उल्लेख आये हैं। ऋग्वेद मे वार्हत् और आर्हत् सम्प्रदायों के प्रचलन के प्रमाण भी मिलते हैं। बार्हत् सम्प्रदाय के अनुयायी वेदों की उपासना करने वाले और यज्ञ में निष्ठा रखने वाले होते थे। उसके विपरीत एक संघ ऐसा भी था जो न वेदों को मानता था और न यज्ञ में विश्वास करता था। वह तो अहिंसा और दया को ही अपना धर्म मानता था। इस संघ को आर्हत् कहा गया है।

अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥[४]

ये आर्हत् अर्हत् के उपासक थे, जो श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। असुर, द्रविड आदि जातियाँ इसी अर्हत् धर्म की अनुयायिनी थीं। विष्णुपुराण के अनुसार ये आर्हत् कर्मकाण्ड के विरोधी और अहिंसा के प्रतिष्ठापक थे। वहाँ उनको 'मायामोह' नाम दिया गया है जो अर्हत् का शिष्य था। पद्मपुराण, भागवतपुराण, आदि ग्रन्थों में भी एतत् सम्बद्ध अनेक प्रमाण मिलते हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि आर्हत् सम्प्रदाय जैन सम्प्रदाय था।

आर्हत् सम्प्रदाय का उल्लेख 'व्रात्य' शब्द से भी हुआ है। व्रात्य का वास्तविक अर्थ है—व्रतों को पालन करने वाले। अथर्ववेद में एक समूचा व्रात्यकाण्ड आया है जिसके अनुसार ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, विशिष्ट पुण्यशील, विद्वान और विश्वसम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाता है।[५]

ऋग्वेद में जिन 'वातरशना' मुनियों का बहुधा उल्लेख हुआ है वे भी आर्हत् अथवा जैन होने चाहिए।[६] सायण ने भी इन्हीं वातरशना मुनियों को अतीन्द्रियार्थदर्शी

---

४ ऋग्वेद, २, ३३, १०।

५ अथर्ववेद, १५, १, १, १ सायण भाष्य।

६ (क) मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिम यन्ति यद्देवासो अविक्षत् ॥—ऋग्वेद, १०, ११, १३६,२
(ख) तैत्तिरीय आरण्यक, १, २३,२; १, २४,४; २,७; १२।

कहा है।[7] केशी मुनि भी व्रात्य ही थे।[8] श्रीमद्भागवत् में इन मुनि
धर्मनेता के रूप में नाभिपुत्र ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है।[9]

वैदोत्तरकालीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट परिलक्षित होत
आदि से त्रस्त होकर वैदिक ऋषि व्रात्यों की आध्यात्मिक साधना की
हुए। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसी का प्रतीक है।[10] वे आत्म-ज्ञान के वास्त
हो गये। यज्ञ-याग की व्याख्यायें बदलने लगीं। व्रात्यों के प्रति सम्मान
जागरित हुई।[11] अहिंसा की प्रतिष्ठापना प्रारम्भ हुई। आत्म-ज्ञान की ओ
का ध्यान केन्द्रित हो गया। यह सब निःसन्देह जैनधर्म के प्रभाव का प्रतिफल म
चाहिए।

इस समय तक वैदिक संस्कृति राष्ट्रीय संरक्षण से दूर हट गई थी और
स्थान श्रमण संस्कृति ने ले लिया था। ब्राह्मण वर्ग के स्थान पर क्षत्रिय वर्ग प्र
ा गया था और वह अध्यात्म विद्या का विशेष संरक्षक बन गया था।

ावान ऋषभदेव

वेदों में उल्लिखित भगवान ऋषभदेव को पौराणिक काल में विशेष मान
। श्रीमद्भागवत् में उन्हें विष्णु का अवतार स्वीकार करके उनके समूचे चा
आलेखन किया गया है। इस अवतार का मुख्य उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषि
के धर्म का प्रचार-प्रसार करना था। वृषभ (बैल), जटाजूट आदि सादृश्य के कारण
विद्वानों ने ऋषभदेव और शिव को एकाकार बताने का प्रयत्न किया है।[12]

ऋषभदेव तथा उनके उत्तरवर्ती जैन तीर्थंकरों के छुटपुट उल्लेख वैदिक
साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[13]

पुरातात्विक प्रमाण भी जैनधर्म और उसके तीर्थङ्करों की प्राचीनता को सिद्ध
करते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ भगवान महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। उनके

---

७ सायण भाष्य, १०, १३६, २
८ ऋग्वेद १०, ११, १३६, १
९ श्रीमद्भागवत् ५, ३, २०
१० ब्रह्मसूत्र
११ अथर्ववेद, १५, २, ३, १, २
१२ राजकुमार जैन. ऋषभदेव और शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यतायें—मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६२६।
१३ देखिये, लेखक का ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature, प्रथम अध्याय।

व्यक्तित्व और सिद्धान्तो का दर्शन जैन-बौद्ध साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है। वे 'चाउज्जामधम्म' के प्रवर्तक थे। तथागत बुद्ध ने उनकी परम्परा मे दीक्षित होकर कुछ समय तक आध्यात्मिक साधना की थी। बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी बौद्धधर्म मे दीक्षित होने के पूर्व पार्श्व-परम्परा के अनुयायी थे। कालान्तर मे जैन धर्म की उत्कृष्ट साधना की आराधना करने मे असमर्थ होने से उन्होंने मध्यम मार्ग अपना लिया।

भगवान महावीर

भगवान महावीर को तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैसे महापुरुषो का दर्शन विरासत मे मिला था। उन्होंने स्वय भी तत्कालीन सामाजिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं का समीक्षण किया और यथानुसार जन-समाज के कल्याणार्थ अपना चिंतन प्रस्तुत किया। वे विशुद्ध मानवतावादी और आत्मवादी थे। उनकी दृष्टि व्यक्ति की पवित्र शक्ति और पवित्र साधनों पर केन्द्रित थी। ये साधन उनकी स्वयं की खोज के परिणाम तो थे ही परन्तु एक पुरातन काल से चली आयी ऐतिहासिक परम्परा से भी अनुस्यूत थे। अत वे जैनधर्म के सस्थापक न होकर प्रचारक, प्रसारक और सुधारक थे।

भगवान महावीर की प्राचीन परम्परा पूर्वोल्लिखित श्रमण सस्कृति से सम्बद्ध है जिसमें निजी आन्तरिक श्रम अथवा पुरुषार्थ से कर्मों का शम (शमन) साध्य होता है। उसमे जातीय अथवा वर्गीय भेदभाव न होकर सभी प्राणी एक सम (समानतावादी) सिद्धान्त पर अवलम्बित रहते है और पुनीत साध्य को प्राप्त करते है। साध्य की प्राप्ति मे उसके पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र का सुन्दर समन्वय होना नितांत अपेक्षित है। श्रमण संस्कृति की इस साधना पद्धति से प्राचीन मिस्र और सुमेरियन साधना बहुत प्रभावित हुई। उन पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रत्येक सस्कृति और सभ्यता मे प्रगतिशीलता के तत्त्व सनिहित होते हैं। यदि ये तत्त्व उसमे न रहें तो यथाशीघ्र वह नाम-शेषनित हो जाती है। भारतीय सस्कृति मे यह तत्त्व परिपूर्ण मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। उसकी मणिमाला मे विविधता मे एकता और असमानता मे समानता का विरोधाभास इतने सुन्दर ढंग से पिरोया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। उसके प्रतिरोध मे साम्प्रदायिक और धार्मिक विरोधी तत्त्व भी उपलब्ध होते है पर उनकी पृष्ठभूमि मे राजनीतिक और साम्प्रदायिक सकीर्णता का ही विशेष हाथ रहा है। शायद इसीलिए वे कभी स्थायी नहीं रह सके।

समाज, धर्म, सस्कृति और साहित्य पर इस संकीर्णता का प्रभाव प्रच्छन्न नहीं, पर वह भी किसी काल तक सीमित रहा है। श्रमण-ब्राह्मण अथवा ब्राह्मण-श्रमण मे सर्प-नकुलवत् विरोध[१४] तथा सामूहिक साम्प्रदायिक असहिष्णुतामूलक अत्याचारों

१४ व्याकरण महाभाष्य २, ४, ९.

अध्याय २

महावीरकालीन विभिन्न सम्प्रदाय

की रोमांचक घटना'[१] किसी से प्रच्छन्न नहीं। हस्तिना ताड्यमानोऽपि
मन्दिरम्,' 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा:,' 'माध्यमुखचपेटिका,
पञ्चानन—जैसे साम्प्रदायिक विद्वेषजन्य उद्धरण ईसवी सन् के प्रारम्भि
बहुत मिलते है। इस विषाक्त वातावरण के निर्माण मे साम्प्रदायिक संकी
प्रमुख कारण रहा है। दार्शनिक इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो
कि यह संकीर्णता भी उसके विकास का अन्यतम कारण है। खण्डन-मण्डन की प्
मे चिंतन स्वभावतः आगे बढ़ने लगता है पर उसमे विनाशकारिता के लक्षण
प्रवेश पा जाते है।

साम्प्रदायिकता के समान ही जातीयता भी सामाजिक वैषम्य का अन्य
कारण रहा है। वर्ण और वर्णभेद की इस घातक दुर्नीति ने एक ओर जहाँ चिंत
और विकास के क्षेत्र को अवरुद्ध किया है वहीं दूसरी ओर विरोध के स्वर को उत्तेजित
कर सामाजिक अशान्ति फैलाने मे भी वह निमित्त बना है।

वैदिक संस्कृति के क्रियाकाड व यज्ञ-यज्ञादि को इतना अधिक महत्त्व दे दिया
गया था कि गाय, अश्व, वृषभ जैसे दैनिक उपयोगी पशु वर्ग और दूध, घी, धान्य जैसा
शरीर पोषक पदार्थ वर्ग बहुत बड़ी मात्रा मे यज्ञाग्नि को समर्पित कर दिया जाता था।
इस कारण महावीर के समय आर्थिक कठिनाइयो से जनता त्रस्त हो चुकी थी। वैदिक
धर्मानुयायी राजा-महाराजाओ का भी पतन होने लगा था और 'परा विद्या' के प्रचारक
और पोषक क्षत्रिय वर्ग पर ब्राह्मण प्रभाव कम हो गया था। श्रमण धर्म की उदारता
और दयालुता का आकर्षण ब्राह्मणो के क्रियाकाड और हिंसक यज्ञो से अधिक प्रभाव-
शाली था। इसीलिए वेदानुयायी ब्राह्मण भक्त क्षत्रिय वर्ग श्रमणो की ओर झुक रहा
था। "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" जैसे कथन पुराणो मे उपलब्ध होना इसी आशय का
सूचक है।

इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक असमानता तथा
असहिष्णुता के कारण वैदिक संस्कृति का ह्रास ईसवी पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी मे
प्रारम्भ हुआ और पृष्ठभूमि मे पड़ी हुई श्रमण संस्कृति पुनः चमकी।

अध्याय २

महावीरकालीन विभिन्न सम्प्रदाय

१ क्रियावाद
२ अक्रियावाद
३ अज्ञानवाद
४ विनयवाद
५ नियतिवाद
६ तज्जीवतच्छरीरवाद
७ आत्मषष्ठवादी
८ आत्माद्वैतवाद
९ स्वभाववाद
१० आरण्यक
११ अन्य सम्प्रदाय

महावीरकालीन विभिन्न सम्प्रदाय

प्राचीन साहित्य मे साहित्यकार स्वपालित दर्शन को उपस्थित करने के साथ ही इतर दर्शनो का खण्डन भी किया करता था। श्रमण (जैन-बौद्ध) साहित्य मे भी यह खण्डन-मण्डन परम्परा भली-भांति उपलब्ध होती है। यहाँ हम भगवान महावीर और तथागत बुद्ध कालीन ऐसे ही सम्प्रदायो का उल्लेख कर रहे है जिनकी परम्परा लगभग छिन्न-भिन्न हो चुकी है।

पालि-साहित्य[1] मे महात्मा बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरो का उल्लेख आता है—पूरण कस्सप, मक्खलि गोशाल, अजित केसकम्बलि, पकुघ कच्चायन, सजय वेलट्ठिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत्त (महावीर)। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे शास्ता थे जो अपने सिद्धातो को समाज मे प्रचलित कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसग मे उल्लेखनीय हैं जिन्हें वहाँ दुर्जेय कहा गया है।

१. आदि सम्बन्धी १८ मत (पुब्बान्तानुदिट्ठि अठारसहि वत्थूहि)

(i) सस्सतवाद ४ } १८
(ii) एकच्चसस्सतवाद ४
(iii) अन्तानन्तवाद ४
(iv) अमराविक्खेपवाद ४
(v) अधिच्चसमुप्पन्नवाद २

२. अन्त सम्बन्धी ४४ मत (अपरन्तानुदिट्ठी चतुचत्तारी वत्थूहि)

(i) उद्धमाघातनिका सञ्ञीवाद १६ } ४४+१८=६२
(ii) „ असञ्ञीवाद ८
(iii) „ नेवसञ्ञीनासञ्ञीवाद ८
(iv) उच्छेदवाद ७
(v) दिट्ठधम्मनिब्बानवाद ५

इन बासठ मिथ्यादृष्टियो मे आत्मा, लोक, पुनर्जन्म जैसे प्रश्नो पर विशेष रूप से विचार किया गया है। किसी निश्चित स्थिति-ज्ञान तक न पहुँचने पर अमराविक्खेपवाद, नेवसञ्ञीनासञ्ञीवाद, उच्छेदवाद आदि जैसे सिद्धान्तो की स्थापना की गई। प्राकृत साहित्य मे सम्भवतः इन्ही मतो को ३६३ भेदो मे विभाजित किया गया है—

---

१ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानवाद के ६७ और विनयवाद के ३२।[1] बारहवें अंग दृष्टिवाद में भी जैनेतर मतों का वर्णन रहा होगा। सम्भव है, इन मतों के मूलत दो भेद रहे हो—क्रियावाद और अक्रियावाद। तटस्थ-वृत्ति ने इसके बाद अज्ञानवाद को, और उसके उपरान्त विनयवाद को जन्म दिया होगा।

१ क्रियावाद

इस दर्शन के अनुसार जीव का अस्तित्व है और वह अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों के फल का भोक्ता है। इन कर्मों की निर्जरा कर उसके मन में जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कहीं-कहीं क्रिया का अर्थ चारित्र भी किया गया है। तदनुसार व्यक्ति की क्रिया ही फलदायी होती है, ज्ञान नहीं, क्योंकि वह ज्ञान से सतुष्ट नहीं होता। अन एकान्त रूप से जीवादि पदार्थों को स्वीकारने वाला मत क्रियावाद है। उसके १८० भेद हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नव पदार्थ स्वत और परत के भेद से दो प्रकार के हैं। वे नित्य और अनित्य भी रहते हैं। पुन ये सभी भेद काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के भेद से ५ प्रकार के हैं। इस प्रकार ९×२×२×५=१८० भेद हुए।

क्रियावाद की दृष्टि मे ज्ञानरहित क्रिया से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए 'पढम नाण तओ दया' कहा गया है। 'आहसु विज्जाचरण पमोक्ख' का भी यही सदर्भ है।[3] इसी प्रसंग मे साख्य, वैशेषिक, नैयायिक एव बौद्धो को क्रिया-वादी कहा गया है। जैनदर्शन भी क्रियावादी है। उसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, कर्म आदि समस्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् मानना मिथ्या है। उनके सम्मिलित स्वरूप को ही यहाँ स्वीकार किया गया है।[4]

२ अक्रियावाद

क्रियावाद के विपरीत अक्रियावाद मे आत्मा, पुण्य, पाप आदि कर्मों का कोई स्थान नहीं। लोकायतिक और बौद्धों को इस दृष्टि से अक्रियावादी कहा जा सकता है। पालि साहित्य मे निगण्ठनातपुत्त को क्रियावादी कहा गया है जबकि बुद्ध ने स्व क्रियावादी और अक्रियावादी—दोनो माना है। क्रियावादी इसलिए कि वे जो सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और अक्रियावादी इसलिए कि वे दुश्

ी बुद्ध को एक स्थान पर क्रियावा

आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार

ी हैं।

अक्रियावाद के ८४ भेद हैं। जीवादि सप्त पदार्थ और उनके स्व-पर के भेद से दो भेद हैं। वे सभी भेद पुनः काल, यदृच्छा आदि के भेद से छः प्रकार के हैं। इस प्रकार ७×२×६=८४ हुए।[५] आत्मा के अक्रिय होने पर अक्रियावाद में कृतनाश और अकृताभ्यागमदोष आवेंगे। समस्त वस्तु जगत भी सर्व वस्तु स्वरूप हो जायेगा।[६]

३. अज्ञानवाद

इसके अनुसार श्रमण-ब्राह्मणों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अतः असत्य के अधिक निकट हैं। इसलिए अज्ञान को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। फिर संसार में कोई अतिशय ज्ञानी नहीं जिसे सर्वज्ञ कहा जा सके। ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को एक साथ जान भी नहीं सकता। अज्ञानता होने से चित्त-विशुद्धि अधिक बनी रह सकती है। अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण मानते हैं वह ६७ प्रकार का है– सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद् वक्तव्य, असद् वक्तव्य और सदसद्वक्तव्य। इन सात प्रकारों से जीवादिक नव पदार्थ नहीं जाने जा सकते। अजीवादि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प होते हैं। अतः ९×७=६३ मत हुए। इनमें चार भेद और मिलाये जाते हैं—(i-iii) अर्थ की उत्पत्ति सत्, असत्, सदसत् से होती है, यह कौन जानता है और उससे फल भी क्या है, (iv) वह अवक्तव्य भी होती है, यह कौन जानता है और उस जानने से फल भी क्या है।[७]

दीघनिकाय के अनुसार अज्ञानवाद का प्रस्थापक सञ्जय वेलट्ठिपुत्त है।[८] वे हर दार्शनिक समस्या के प्रति अज्ञानता और अनिश्चितता व्यक्त करते हैं। शीलांक सञ्जय का नाम ही भूल गये। उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्तों को जिन आचार्यों से सम्बद्ध माना है वे शत् प्रतिशत् सही नहीं लगते। उदाहरणार्थ, उन्होंने मक्खलि गोशाल का सम्बन्ध अज्ञानवाद, नियतिवाद और विनयवाद से जोड़ा है जबकि सञ्जय वेलट्ठिपुत्त से अपरिचितता व्यक्त की है। वस्तुतः अज्ञानवाद संजय वेलट्ठिपुत्त का सिद्धान्त है और नियतिवाद मक्खलि गोशाल का। पालि साहित्य में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भगवती सूत्र में भी गोशालक को नियतिवाद का प्रवक्ता माना गया है। सूत्रकृतांग ने अज्ञानवाद को 'पासबद्धा' 'मिच्छादिट्ठी' 'अणारिया' जैसे विशेषणों से सम्बद्ध किया है। भगवान महावीर के धर्म को स्वीकारने वालों में सञ्जय का नाम आता है। संभव है, वे संजय वेलट्ठिपुत्त ही हों।[९]

---

५ सूत्रकृतांग १, १, १२; वृ० पृ० २०८-१; निर्युक्ति ११६-१२१, ६, २७; वृ० पृ० १५२।

६ वही, १, १२; नि० १२१; वृत्ति पृ० २१०-१।

७ वही, १, १२, २ की वृत्ति।

८ अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० २९५।

९ भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध, पृ० २२-२४; विशेष देखिये–भगवान महावीर : एक अनुशीलन, देवेन्द्र मुनि पृ० १०६

४ विनयवाद

विनयवादी विनय से ही मुक्ति मानते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति वे आदर भाव व्यक्त करते हैं। किसी की निन्दा नहीं करते। विनयवाद के ३२ भेद हैं—देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता। इन आठ व्यक्तियों का मन, वचन काय और दान के द्वारा विनय करना अभीष्ट है। अतः ८×४=३२ भेद हुए। पालि साहित्य से पता चलता है कि यह वाद लोकप्रिय रहा होगा। महात्मा बुद्ध भी स्वयं को 'वेनयिको समणो गोतमो' कहते हैं। सूत्रकृतांग ने वही विनय कल्याणकारी बताया है जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

उपर्युक्त चारों मतों के पुरस्कर्ताओं के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अकलंक[१०] ने इस सन्दर्भ में कुछ नाम गिनाये हैं। उनके अनुसार कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि आचार्य क्रियावादी हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि आचार्य अक्रियावादी परम्परा के हैं। साकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि आचार्य अज्ञानवादी हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णी, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिक आचार्य हैं। इन मतों का निरूपण दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में हुआ है। चूंकि यह अंग उपलब्ध नहीं, अतः इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि उक्त आचार्यों में अधिकांश आचार्य पौराणिक हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति के तीसवें शतक में इन चारों वादों की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है।

५ नियतिवाद

नियतिवाद का प्रस्थापक मक्खलि पुत्त गोशालक को माना जाता है। यही आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। पालि साहित्य में मक्खलि शब्द मिलता है पर प्राकृत साहित्य में 'मंखलिपुत्त' शब्द का उल्लेख आता है। मंख का अर्थ है—हाथ में चित्रपट लेकर उसके द्वारा लोगों को उपदेश देकर आजीविका चलाने वाला भिक्षुक। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पन्द्रहवें शतक के उल्लेख से ऐसा लगता है कि यह मंख परम्परा भगवान महावीर से पूर्व भी प्रचलित थी। मक्खलि महावीर का शिष्य भी बना और बाद में संघ से पृथक भी हुआ। उसके शान, कलंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन इन छह शिष्यों (दिशाचरों) का भी उल्लेख मिलता है। ये छिन्न भगवान् पार्श्वनाथ के पथभ्रष्ट शिष्य थे। इसलिए मक्खलि को और इन शिष्यों को चूर्णिकार ने 'पासत्थ' कहा है। पासत्थ पथभ्रष्ट भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।[११]

१० तत्त्वार्थ वार्तिक ८, १३ पृ० ५१।

११ सूत्रकृतांग १, ९, २ चूर्णि पृ ८८, ११, १३३ चूर्णि पृ १९९ इत्यादि।

इस मत के अनुसार सत्त्वों के क्लेश और शुद्धि का कोई हेतु-प्रत्यय नहीं। वे निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग से छः जातियों मे उत्पन्न होते हैं और सुख-दु ख भोगते हैं। वहाँ शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि का कोई स्थान नहीं। सुख-दुःख द्रोण से तुले हुए हैं। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन मे पड़कर दु खो का अन्त करेंगे।[१२] प्राकृत साहित्य में भी नियतिवाद इसी रूप में वर्णित है। वहाँ कहा गया है कि नियतिवाद के अनुसार बाह्य कारणो से उत्पन्न सुख-दु ख स्वयकृत अथवा परकृत नहीं। इसके पीछे काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ भी कारण नही। उसके पीछे मात्र एक कारण नियति है। महान् प्रयत्न करने पर भी अभव्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती और भव्य वस्तु का विनाश नही होता।

शीलाक ने आजीवक, अज्ञानवादी और वैनयिक के सिद्धान्तों को मिश्रित कर दिया है और इन तीनों का प्रस्थापक गोशालक को मान लिया है। यह निश्चित ही भ्रामक है। पर इससे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि अज्ञानवाद और विनयवाद अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके और शीलाक के समय तक ये आजीवक सम्प्रदाय के अग बन गये।

६ तज्जीवतच्छरीरवाद

सूत्रकृताग मे प्रथमत. चार्वाक और तज्जीवतच्छरीरवादियो के मत को पृथक्-पृथक् बताया है और बाद मे दोनों को एक कर दिया है। तज्जीवतच्छरीरवादी वह है जो शरीर और जीव को एक माने। भूतवादी चार्वाक और तज्जीवतच्छरीर-वादी में अन्तर यह है कि भूतवादी के अनुसार पाच भूत ही शरीर रूप मे परिणत होकर सब क्रियायें करते हैं परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी के मत मे शरीर रूप मे परिणत उन पाच भूतों से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है। शरीर के नष्ट होने पर उसका भी विनाश हो जाता है। कर्मफलभोक्ता परलोकगामी आत्मा जैसे पदार्थ का शरीर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं। इस दृष्टि से यहाँ पुण्य-पाप कर्मों का भी कोई अस्तित्व नहीं।[१३] राजप्रश्नीय मे केशीश्रमण और राजा प्रदेशी के बीच जीव और आत्मा के सन्दर्भ मे जो विवाद हुआ, उसमे प्रदेशी तज्जीवतच्छरीरवादी दिखाई देता है।

पालि साहित्य मे तज्जीवतच्छरीरवाद को उच्छेदवाद के भेदों में देखा जा सकता है। सम्भव है चार्वाक सम्प्रदाय मे कुछ मतमतान्तर रहे हो और तज्जीव-तच्छरीरवाद उनमे से एक रहा हो। शीलाक ने भी इन दोनों को कहीं-कहीं अपृथक् माना है।

---

१२ दीघनिकाय, सामञ्ञ फल सुत्त।

१३ सूत्रकृताग १, १, ११ वृत्ति पृ २०, २।

७. आत्मषष्ठवादी

सूत्रकृतांग में इसे सांख्य तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध माना है। पाँच महाभूतों के बाद आत्मा को छठा पदार्थ मान लेने के कारण वे आत्मषष्ठवादी कहे गये हैं।[१४]

८ आत्माद्वैतवाद

शीलांक आत्माद्वैतवाद एव एकान्तात्माद्वैतवाद दोनों शब्दों को समानार्थक मानते हैं। इसके अनुसार जैसे एक ही पृथ्वी समूह विविध रूपों में लक्षित होती है, उसी प्रकार एक ही आत्मस्वरूप समस्त जगत के नाना रूपों में देखा जाता है। उनकी दृष्टि में एक ही ज्ञान पिण्ड आत्मा पृथ्वी आदि भूतों के आकार में अनेक प्रकार का देखा जाता है परन्तु इस भेद के कारण आत्मा के उस स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। चेतन अचेतन रूप समस्त पदार्थ एक ही आत्मा है।[१५] आत्माद्वैतवाद में न प्रमाण है, न प्रमेय, न प्रतिपाद्य है, न प्रतिपादक, न हेतु है, न दृष्टान्त और न उनका आभास। समस्त जगत आत्मा से अभिन्न होने के कारण एक हो जाता है। इस स्थिति में पिता, पुत्र, मित्र आदि का भेद नहीं रहता, सुखादिक नहीं रहते। अतः आत्माद्वैतवाद निर्दोष नहीं।

९ स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार जगत की विचित्रता का मूल कारण स्वभाव है। कण्टक की तीक्ष्णता, मयूर की विचित्रता और मुर्गे का रंग यह सब स्वभाव से ही होता है।[१६] बुद्धचरित[१७] और शास्त्रवार्तासमुच्चय[१८] में भी स्वभाववाद की यही व्याख्या की गई है। शीलांक ने इसे तज्जीवतच्छरीरवाद से सम्बद्ध किया है और यह कारण दिया है कि चूंकि पंच महाभूतों से आत्मा पृथक् नहीं है, इसलिए जगत की विचित्रता में स्वभाववाद कारण रूप माना जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अज्ञानवाद, कालवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, पुरुषार्थवाद, ईश्वरवाद, दैववाद आदि जैसे अनेक वादों के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें लोकनिर्माण के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में भी इन सभी को कारण माना गया है, परन्तु उनके समन्वित रूप को, न कि पृथक्-पृथक् रूप को।

---

१४ सूत्रकृतांग १, १, १६ वृत्ति पृ २८।
१५ वही, १, १, ९ वृत्ति पृ १९।
१६ वही, वृत्ति पृ. ३८, [illegible] पृ ५।
१७ बुद्धचरित ५।
१८ शास्त्रवार्तासमुच्चय १६१-१७२।

नहि कालादिहितो केवलएहिंतो जायए किंचि ।
इह मुग्गरधणाइवि ता सब्वे समुदिया हेउ ॥[१९]

इसके साथ ही जैनदर्शन मे कर्म को भी ससार के इस वैचित्र्य का कारण बताया गया है । उसको भी सुख-दुःख का कारण माना गया है । कर्म मूर्त है क्योंकि सुखादि से सम्बद्ध होने के कारण भी व्यक्ति तदनुकूल अनुभव करता है । मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का उपघात अथवा उपकार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मदिरा आदि मूर्त वस्तुओ द्वारा विज्ञानादि अमूर्त वस्तुओ का । लोक षड् द्रव्यमय है । द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । उसका नूतन पर्यायो मे परिणमन, पूर्व पर्यायो का विनाश तथा मूल अश की स्थिति रहती है । इसमे ईश्वर को परिचालक मानने की आवश्यकता ही नहीं ।

१० आरण्यक

आरण्यक अरण्य मे ही रहना अपना धर्म समझते थे । वे कन्द-मूल-फलाहारी, वृक्षमूलवासी, ग्रामन्तकवासी तथा सर्वसावद्यानुष्ठान से अनिवृत रहते थे और एकेन्द्रिय जीवों के घात से प्राय अपना निर्वाह करते थे । तापस आदि ऐसे ही होते थे । वे द्रव्यतः अनेक व्रतो का आचरण करने पर भी भावत. उनसे शून्य रहते थे । इसके पालक प्रायः ब्राह्मण रहा करते थे । अतः वे अपने आपको अहन्तव्य मानते थे । उनका मत था—शूद्र व्यापाद्य प्राणाय म जपेत् किञ्चिद् दद्यात् ।[२०] पालि साहित्य में भी आरण्यको और परिव्राजको के पर्याप्त उल्लेख मिलते है ।

११. अन्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त श्रमण साहित्य मे और भी अनेक प्रकार के सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं । प्रश्न व्याकरण[२१] मे असत्यभाषक के रूप मे सम्प्रदायों का विभाजन इस प्रकार किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पचस्कन्धवादी—बौद्ध
३. मनोजीववादी ।
४ वायुजीववादी ।
५. अन्डे से जगत की उत्पत्ति मानने वाले ।
६ लोक को स्वयंभूकृत मानने वाले ।
७. संसार को प्रजापति द्वारा निर्मित मानने वाले ।

---

१९ सूत्रकृताग २, ५, १५ वृत्ति ।
२० सूत्र २, २, २८-२९ ।
२१ अध्ययन २६ व ३१ ।

८ सारे संसार को विष्णुमय मानने वाले।
९ आत्मा को एक, अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय और निर्लिप्त मानने वाले।
१०. जगत को यादृच्छिक मानने वाले।
११ स्वभाववादी।
१२. दैववादी।
१३ नियतिवादी।
१४ ईश्वरवादी।

'नायाधम्मकहाओ' के नंदीसूत्र नामक पन्द्रहवें अध्याय में एक संघ के साथ विविध मत वालों के प्रवास का उल्लेख है। उन मत वालों के नाम ये हैं—

१ चरक—त्रिदण्डी अथवा कच्छनीधारी-कोपीनधारी तापस।
२. चीरिक—चीथड़ों से निर्मित वस्त्रधारी।
३ चर्मखण्डिक—चर्मवस्त्र अथवा चर्मोपकरण रखने वाले।
४ भिच्छुण्ड—भिक्षुक अथवा बौद्ध भिक्षुक।
५ पंडुरंग—शिवभक्त, भस्म लगाने वाले।
६ गौतम—साथ में बैल रखने वाले भिक्षुक।
७ गोव्रती—गोव्रत रखने वाले।
८. गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।
९ धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।
१० अविरुद्ध—विनयवादी।
११ वृद्ध—सन्यास में विश्वास रखने वाले।
१२ श्रावक—धर्मश्रोता।
१३ रक्तपट—रक्त वस्त्रधारी परिव्राजक।[२३]

श्रमण साहित्य में परमतों का उल्लेख उनके नामों से हुआ है—जैसे एगे पवयणा, अन्नउत्थिया, पासत्था, दिसाचरा, अन्नतीथिया, मिथ्यादृष्टि वाला आदि। इसलिए उनका सही विवरण मिलना कठिन हो जाता है। सूत्रकृतांग के तृतीय अध्ययन में चूर्णिकार ने कुछ अन्यमती सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनमें प्रमुख हैं—गौतम, चण्डीदेवक, दगसोयरिय, वारिभद्रक, अग्निहोमवादी तथा जल-शौचवादी। ऋषिभाषित ग्रंथ में कुछ अर्हत् ऋषियों का उल्लेख है। उनमें से कुछ ये हैं—अग्निदेव, असित देवल, नारद, महाकश्यप, मंखलिपुत्र, याज्ञवल्क्य, बाहुक, मधुरायण, सोरियायण, वरिसव कण्ह, आरियायण, गाथापतिपुत्र तरुण, रामपुत्र, हरिगिरि, मातंग, वायु-..., वल्कल परिव्राजक, ... महाशाल, नारायण, शाक्यपुत्र (बुद्ध), द्वैपायन, सोम, ...

औपपातिकसूत्र में गंगातटवासी वानप्रस्थों का उल्लेख मिलता है—

१. होत्तिय—अग्निहोम करने वाले।
२ पोत्तिय—वस्त्रधारी।
३. कोत्तिय—भूशायी।
४. जण्णई—याज्ञिक।
५ सड्ढई—श्रद्धाशील।
६. थालई—सारा सामान लेकर चलने वाले।
७. हुंबउट्ठ—कुण्डी लेकर चलने वाले।
८. दन्तुक्खलिय—दाँतों से चबाकर खाने वाले।
९ उम्मज्जक, सम्मज्जक और निमज्जक—स्नान करने वाले।
१०. संपक्खाल—शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करने वाले।
११. दक्खिणकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।
१२ उत्तरकूलग—गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।
१३ संखधमक—शंख बजाकर भोजन करने वाले।
१४. कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर आवाज कर भोजन करने वाले।
१५. मियलुद्धय—पशु भक्षण करने वाले।
१६ हत्थितावस—हाथी को मार कर एक वर्ष तक उसे खाने वाले।
१७ उद्दण्डक—दण्ड को ऊपर करके चलाने वाले।
१८. दिसापोक्खी—दिशा सिञ्चन करने वाले।
१९. वक्कवासी—वल्कल पहनने वाले।
२०. अंबुवासी—जलवासी।
२१. बिलवासी—बिल में रहने वाले।
२२. वेलवासी—समुद्र के किनारे रहने वाले।
२३. रुक्खमूलिआ—वृक्ष के नीचे रहने वाले।
२४. अंबुभक्खी (जलभक्षी), वायुभक्खी और सेवालभक्खी।

इसी सूत्र में प्रव्रजित श्रमण का अलग से उल्लेख किया गया है। संखा (सांख्य), जोई (योगी), कविल (कपिल), भिउच्च (भृगु ऋषि के अनुयायी), हंस (वनवासी, पर भिक्षार्थ ग्रामभ्रमण करने वाले), परमहंस (नदी तटवासी तथा वस्त्रादि छोड़कर प्राण त्याग करने वाले), बहूदय (गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहने वाले), कुडिव्वय (गृहवासी तथा रागादि त्यागी), कण्हपरिव्वायग (कृष्ण परिव्राजक) उनमें प्रमुख हैं। ब्राह्मण परिव्राजकों में कण्डु, करकण्डु, अंबड, परासर, कण्हदीवायण, देवगुप्त और णारय तथा क्षत्रिय परिव्राजकों में सेलई, ससिहार, णग्गई, भग्गई, विदेह, रायाराय प्रमुख हैं। ये परिव्राजक वेद-वेदांग में निष्णात, स्नानादि में विश्वास करने वाले, सादे ढंग से रहने वाले और अनर्थदण्ड से विरत रहने वाले थे।

औपपातिक सूत्र मे ही आजीवक श्रमणों के सात प्रकार बताये गये हैं—दुघरतरिया (दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले), तिघरतरिया, सतघरतरिया, उप्पल-बेंटिया (कमल के डंठल खाकर रहने वाले), घरसमुदानिय (प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले) विज्जुअंतरिया (विद्युत्पात के समय भिक्षा न लेने वाले) तथा उट्टियसमण (किसी बड़े मिट्टी के बर्तन मे बैठकर तप करने वाले)। इनके अतिरिक्त अत्तुक्कोसिय, परपरिवाइय तथा भूइकम्मिय श्रमण भी थे। सात निह्नवों का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है—बहुरय (प्रवर्तक—जामालि), जीवपएसिय (प्रवर्तक–तिष्यगुप्त), अव्वत्तिय (प्रवर्तक—आषाढाचार्य), सामुच्छेइय (सस्थापक—अश्वमित्र), दोकिरिया (प्रवर्तक—गगाचार्य), तेरासिया (सस्थापक—रोहिगुप्त) तथा अबद्धिय (सस्थापक—गोष्ठा माहिल)। ये मूलत किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य थे। आगम साहित्य मे श्रमणो के पाँच भेद भी दिये गये हैं। निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक। इनमे से आज निर्ग्रन्थ और शाक्य ही शेष रहे हैं।

इस प्रकार पालि-प्राकृत-सस्कृत साहित्य मे षड्दर्शनों के अतिरिक्त प्राचीनकाल मे विशेषत भगवान महावीर के काल मे अनेक वादो का विवरण मिलता है। परन्तु उनका मूल सैद्धान्तिक साहित्य उपलब्ध नही होता। सम्भवत: अधिकाश उक्त वादो का कोई विशेष साहित्य था भी नहीं अन्यथा उनका उल्लेख अवश्य मिलता। इसीलिए प्रतीत होता है कि ये वाद अधिक प्रभावक नहीं रहे होंगे तथा यह भी सम्भव है कि उनका जीवनकाल अधिक नहीं रहा होगा। (आवश्यकता यह है कि इस विषय पर और शोध की जाय और उनके समूचे सिद्धान्त विविध साहित्य से एकत्रित कर भारतीय सस्कृति मे उनके स्थान का निर्णय किया जाय। मानव के लिए उनकी कहाँ उपयोगिता है, इसका भी मूल्याङ्कन किया जाना अपेक्षित है।)

☆

अध्याय ३

भगवान महावीर : व्यक्तित्व और विश्लेषण
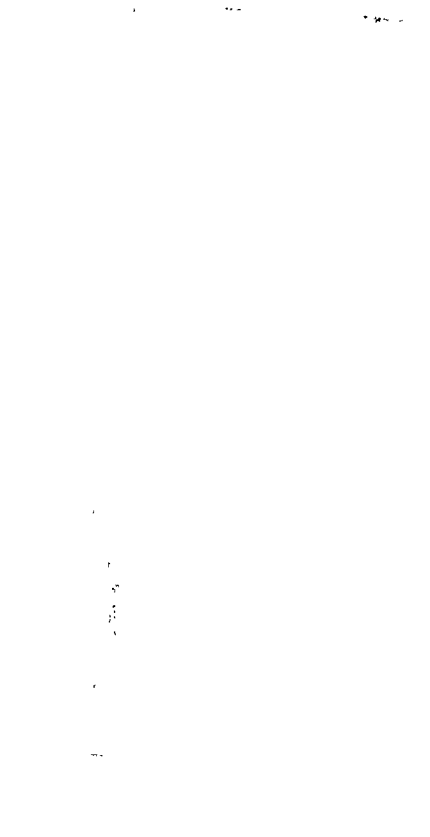
भगवान महावीर : व्यक्तित्व और विश्लेपण

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बाद भगवान महावीर छठवीं शताब्दी ई० पू० का एक ऐसा उत्क्रान्तिकारी व्यक्तित्व था जिसने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक तत्त्वों का सूक्ष्म अध्ययन कर सर्वसाधारण व्यक्ति की मूलभूत समस्याओं का मौलिक समाधान प्रस्तुत किया । जिस समय ईरान में जरथुस्त्र, फिलिस्तीन में जिरेमिया और ईजेकिल, चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से, यूनान में पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात प्रभृति उच्चकोटि के चिन्तक अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे, उसी समय भारत वसुन्धरा में पूर्ण कश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बलि, प्रकुध कात्यायन, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त, गौतमबुद्ध और निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र(निगण्ठनातपुत्त) एवं अन्य विचारक अपने-अपने ढंग से तात्कालिक ज्वलन्त दार्शनिक प्रश्नों का समाधान उपस्थित कर रहे थे ।

उक्त भारतीय दार्शनिक प्रायः श्रमण संस्कृति की विविध शाखाओं के प्रवर्तक थे । यह पहेली अनबुझी-सी है कि महात्मा बुद्ध ने अपने समसामयिक आचार्य तीर्थंकरों में केवल इन श्रमण दार्शनिकों का ही सविशेष उल्लेख क्यों किया ? यह अधिक सम्भव है कि उस समय चूंकि वैदिक संस्कृति की लोकप्रियता कम होती चली जा रही थी और कोई विशेष प्रभावक वैदिक दार्शनिक उनके समक्ष था नहीं, इसलिए बुद्ध ने उनके विचार रखना आवश्यक ही नहीं समझा ।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति

भगवान महावीर के समय तक वैदिक संस्कृति में उच्छृंखलता, अमानवीयता एवं घनघोर अहंकार के मद में आपूर क्रूरता प्रदीप्त थी । यज्ञप्रधान इस संस्कृति के प्राङ्गण में हुताशन को मूक पशु-पक्षी क्या निरपराध नर-नारी और शिशु समुदाय भी निःसंकोच समर्पित कर दिये जाते थे । "यज्ञार्थं पशवः स्वयमेव स्वयम्भुवा" कहकर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" जैसे स्वपरवञ्चक नारे लगाकर याज्ञिक यज्ञादि अनुष्ठानों का औचित्य प्रगट कर रहे थे । उनके इस समर्पण में श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भौतिक साधनों की अधिकाधिक उपलब्धि का उद्देश्य निहित था । आध्यात्मिक उत्कर्ष की सीमा स्वर्ग ही थी जिसमें शारीरिक और मानसिक तृप्ति की आकांक्षाओं का अंबार लगा रहता था । इस यज्ञ-याग विधि का एकमात्र ज्ञाता और कर्ता ब्राह्मण माना जाता था ।

इस वैदिक कर्मकाण्ड के फलस्वरूप जातिवाद एवं वर्गवाद की सीम
संकीर्ण होती गई। उस समय तथाकथित शूद्रवर्ग को अधम, पतित और निम्नाम
जाता था। वेदाध्ययन और देवदर्शन तो दूर, उसकी छाया को भी अपवित्र और
कीय मानते थे। यदि कोई ऐसा करता हुआ पकड़ लिया जाता तो उसके कर्णवि
मे शीशा भर दिया जाता, जिह्वाच्छेदन कर दिया जाता और यहाँ तक कि उसके जी
के साथ खिलवाड़ करने मे भी यह वर्ग पीछे नही हटता था। यज्ञहिंसा के साथ
जातिगत हिंसा भी कम नही थी।

वैदिक संस्कृति के इस निकृष्ट कर्मकाण्ड का फल यह हुआ कि समाज मे वर्ग
संघर्ष प्रारम्भ हो गया। गरीब और अमीर, दास और स्वामी, अभिजात्य और निम्न
वर्गों के बीच गहरी खाई बन गई। सारा समाज कुण्ठा की भावना से ग्रस्त हो गया।
उदासीनता, कातरता और परतन्त्रता मे पली हीनभावना—अहंकारिता, उच्चकुलीनता
और ईश्वरीयता से सिञ्चित श्रेष्ठभावना के अंचल-अंचल में सिसकती हुई ज्वालामुखी
की तरह उद्दीप्त होने लगी। भगवान महावीर के जन्म की प्रतीक्षा मे ही मानो वे
भावनायें उबाल लेने को रुकी हुई थीं।

समाज की इस विशृङ्खलता एवं विक्षुब्ध अवस्था को दूर कर समाजवाद की
प्रस्थापना करने के लिए किसी एक दूरदर्शी और समभावी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति
आवश्यक एवं स्वाभाविक थी। भगवान महावीर के जन्म ने इस महती आवश्यकता
को निःसन्देह पूरा किया। उन्होंने धनी और निर्धन के बीच बनी खाई को
समझा तथा स्वयं को पतित-पावन कहने वालो की मानसिक और सामाजिक
परखा। समूची स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण कर महावीर ने संसार की वास
सन्तप्त जनसमुदाय को एक नई चेतना और ऐसा दर्शन दिया जिनका सम्बल
उसने सही आध्यात्मिक और सामाजिक साधना करने का बीड़ा उठाया।

आधार

महावीर के जीवन चरित्र की खोज के लिए हमे दो प्रकार का साहित्य दे
होगा—जैन साहित्य और जैनेतर साहित्य। जैनेतर साहित्य मे से वैदिक साहित्
महावीर के विषय मे कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नही होती। यह बात दूसरी है
आरण्यकों और उपनिषदो पर महावीर के उपदेशो अथवा सिद्धान्तो की झलक स्प
रूप से दिखती है।

जहाँ तक बौद्ध साहित्य का प्रश्न है, वह निश्चित ही किसी सीमा तक हमं
महावीर के जीवन के विषय में कुछ संकेत करता है। चूँकि महावीर गौतम बुद्ध के
समसामयिक तीर्थंकर रहे हैं, अतएव पालि साहित्य मे महावीर के विषय मे सामग्री का
होना स्वाभाविक है ही। पर यह सामग्री भी अपर्याप्त है। महावीर के विषय मे यहाँ
जो कुछ भी मिलता है वह उनके तपस्वी जीवन और सिद्धान्तो से सम्बद्ध है। वहाँ

उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय मे कुछ भी नहीं मिलता । उनको जो 'निगण्ठनातपुत्त' कहा गया है वह भी साधना मे लीन हो जाने पर केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त ही ।

जैन साहित्य मे आगम और आगमेतर साहित्य उपलब्ध है । आगम साहित्य के आधार पर ही उत्तरकाल मे महावीरचरित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं में लिखे गये ।

दोनो परम्पराओ मे उपलब्ध अथवा उल्लिखित मुख्य महावीरचरित सम्बन्धी ग्रन्थो को निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

दिगम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ

(क) प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थ

१. तिलोय पण्णत्ति
   (यतिवृषभ, लगभग ५वीं शती)
२. तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार
   (पुष्पदन्त, शक स० ८८०)
३. वड्ढमाण कव्व
   (जयमित्र हल्ल, १५वीं शती)
४. वड्ढमाणकहा
   (नरसेन, वि० स० १५१२)
५. सम्मइ-चरिउ (रइधूकृत, वि० सं० १५०० के आसपास)

श्वेताम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ

१. आयाराग
२ सूयगडांग
३ ठाणांग
४. समवायाग
५. उवासगदसाग
६ व्याख्याप्रज्ञप्ति
७ कल्पसूत्र
८. आवश्यक निर्युक्ति
९ विशेषावश्यक भाष्य
१०. आवश्यक चूर्णि
११ चउप्पन्न महापुरिसचरिय
    (शीलाकाचार्य, वि० स० ९२५)
१२ पउम चरिय
    (वसुदेव हिण्डी)
१३ महावीरचरिय
    १ गुणचन्द्रसूरि (११३९ ई०)
    २. नेमिचन्द्र (१०२७ ई०)
    ३ देवभद्रगणि (वि० स० ११६८)
१४. कहावलि
    (भद्रेश्वर, १२वी शती)

(ख) संस्कृत ग्रन्थ

दिगम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ

१. वागर्थसंग्रह
   (कवि परमेष्ठी)

श्वेताम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थ

१. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरितम्
   (आचार्य हेमचन्द्र)

प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समन्तभद्र को भी भगवान महावीर के के जीवन-चरित्र मे असाधारण घटनाएँ परम्परानुसार प्राप्त हुई होगी । उससे असतुष्ट होकर उन्होने कहा है कि जन्मादिक कल्याणको के अवसरो पर देवादिको का आगमन, गगन मे विमानादि की सहायता के बिना विचरण, चवर, छत्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, अशोक वृक्ष, भामण्डल और दिव्यध्वनि जैसे अष्ट प्रतिहार्यों की विभूतियाँ अन्य मायावियो मे भी दिखाई देती हैं । इसलिए हे भगवन् ! आप हमारे लिए महान् अथवा पूज्य नहीं हैं । यदि यह माना जाय कि आपका शरीर, नि:स्वेदता, सुरभिता एव निर्मलता को लिए हुए है और ये अतिशय किसी दूसरे तीर्थंकर मे नहीं पाये जाते तो यह मानना भी समुचित नहीं है । क्योकि ये अतिशय भी राग, द्वेष, काम, क्रोधादि कषायो से अभिभूत स्वर्ग के देवो मे भी पाये जाते हैं—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि महोदय.।
दिव्य: सत्यो दिवौकसस्त्वप्यस्ति रागादिमत्सु स. ॥[२]

आचार्य समन्तभद्र, विद्यानन्दी जैसे प्राचीन मनीषियों ने भी जब महावीर के साथ सयुक्त अतिशयो के प्रति अधिक आकर्षण नहीं दिखाकर उनकी वीतरागता को ही प्रधानता दी, तो आज का वैज्ञानिक युग अति-मानवीय बातों को सहजतापूर्वक कैसे स्वीकार कर लेगा, यह तथ्य विचारणीय है । अत: ऐसी बातों से दूर रहकर भगवान महावीर के सही व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना हमारा परम कर्तव्य है । असाधारण घटनाओ के साथ जो पुनीत उद्देश्य प्रतीकात्मक ढग से प्रस्तुत किया जाता है । उसका विश्लेषण किया जाना नितान्त आवश्यक है । यहाँ हमारा यह मन्तव्य नहीं कि असाधारण घटनाओं का होना असम्भव है । हमारा तो यह कथन है कि उनका विश्लेषण वैज्ञानिक रीति से किया जाना अपेक्षित है ताकि महावीर के जीवन का सही चित्रण उपस्थित हो सके ।

महावीर : पूर्वभव की अक्षुण्ण परम्परा का परिणाम

जैन सस्कृति कर्मप्रधान सस्कृति है । उसमे आत्मा को स्वभावत अनादि, अविनश्वर और विशुद्ध मानकर उसे मिथ्यात्व और मोह के कारण ससारबद्ध बताया गया है । आत्मा अनन्त शक्ति का स्रोत है । ससारावस्था मे यह शक्ति अविकसित और अप्रकट रहती है । शनै -शनैः भेद-विज्ञान होने पर वह अपनी मूल अवस्था में आ जाता है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उसे अगणित जन्म-जन्मान्तर भी ग्रहण करने पड़ते हैं ।

---

२ आप्तमीमांसा, १-२

२१. सिंह	२१ चतुर्थ नरक
२२. प्रथम नरक का नारकी	२२. प्रियमित्र चक्रवर्ती
२३. सिंह	२३. महाशुक्र कल्प का देव
२४. प्रथम स्वर्ग का देव	२४. नंदन
२५. कनकोज्ज्वल राजा	२५. प्राणत देवलोक में देव
२६ लांतव स्वर्ग का देव	२६ देवानंदा के गर्भ मे
२७. हरिषेण राजा	२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान महावीर
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती	
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव	
३१. नंदराजा	
३२. अच्युत स्वर्ग का देव और	
३३. भगवान महावीर	

दोनों परम्पराओं ने चूंकि महावीर के प्रमुख भवों का ही उल्लेख किया है अतः यह कोई मतभेद का विषय नहीं है। इन भवों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जीव कभी धर्म धारण करने पर सौधर्म स्वर्ग के सुखों को भोगता है तो कभी कुमार्गगामी होकर सप्तम नरक के भी दारुण दुःखों को भोगता है। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से महावीर का जीव संसरण करता हुआ अपनी सिंह पर्याय में अजितंजय नामक चारण ऋषिधारी मुनि से संबोधन पाता है और संबोधन पाने के बाद उसके अन्तःकरण से क्रूरता का विषाक्त-भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नयसार के भव में मुनि को आहारदान और उनके पवित्र उपदेश से उसके जीवन में परिवर्तन आता है। कहा जाता है कि महावीर के जीव में यहीं से प्रबल परिवर्तन प्रारम्भ होता है और यहीं वह रौद्ररस के स्थान पर शान्तरस को ग्रहण कर लेता है। पुनः वह साधना से भटक भी जाता है किन्तु अन्त में पुनः प्रबुद्ध होकर अपना चरम विकास कर लेता है।

पूर्वभव की परम्परा पर आज की प्रगतिशील पीढ़ी को भले ही विश्वास न हो पर यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं कि हमारी जन्म-परम्परा हमारी कर्म-परम्परा पर आधारित है। महावीर की पूर्वभव-परम्परा भी उनके भावों और कर्मों के अनुसार निश्चित हुई है। इस निश्चितीकरण में जैनधर्म सर्वज्ञ तीर्थंकर के सर्वतोमुखी ज्ञान को आधार स्वरूप मानता है। महावीर ने तीर्थंकरत्व की प्राप्ति तक अनंत भव धारण किये होंगे पर उन भवों में से प्रमुख भवों का ही उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में किया गया है।

माता-पिता

छठी शताब्दी ई० पू० में वैशाली वज्जी गणतन्त्र की राजधानी थी। उसके

महावीर के इन जन्म-जन्मान्तरों अथवा पूर्वभवों का वर्णन उत्तर-पुराण, समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, महावीर चरित्र आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों में महावीर के जीव के पूर्वभव-सम्बन्ध का प्रारम्भ ऋषभदेव के पुत्र भरत और भरत की महिषी अनन्तमति के पुत्र मरीचि से किया गया है। दिगम्बर परम्परा में महावीर के ऐसे तेतीस प्रमुख पूर्वभवों का वर्णन है पर श्वेताम्बर परम्परा उनकी संख्या सत्ताईस[१] निर्धारित करती है। ये दोनों परम्पराएँ इस प्रकार हैं–

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१. पुरूरवा भील	१. नयसार ग्रामचिन्तक
२. सौधर्मदेव	२. सौधर्मदेव
३. मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्मस्वर्ग का देव	४. ब्रह्मस्वर्ग का देव
५. जटिल ब्राह्मण	५. कौशिक ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्ग का देव	६. पुष्यमित्र ब्राह्मण
७. पुष्यमित्र ब्राह्मण	७. सौधर्मदेव
८. सौधर्म स्वर्ग का देव	८. अग्निद्योत
९. अग्निसह ब्राह्मण	९. द्वितीय कल्प का देव
१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव	१०. अग्निभूति ब्राह्मण
११. अग्निमित्र ब्राह्मण	११. सनत्कुमार देव
१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१२. भारद्वाज
१३. भारद्वाज ब्राह्मण	१३. माहेन्द्र कल्प का देव
१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव त्रस-स्थावर योनियों में असंख्य वर्षों तक परिभ्रमण	१४. स्थावर ब्राह्मण
१५. स्थावर ब्राह्मण	१५. ब्रह्मकल्प का देव
१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१६. विश्वभूति
१७. विश्वनन्दि	१७. महाशुक्र का देव
१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	१८. त्रिपृष्ठनारायण
१९. त्रिपृष्ठनारायण	१९. सातवीं नरक
२०. सातवें नरक का नारकी	२०. सिंह

---

१ श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर का गर्भ परिवर्तन माना है। इसलिए यह संख्या २७ हो गई है।

२१. सिंह	२१ चतुर्थ नरक
२२. प्रथम नरक का नारकी	२२ प्रियमित्र चक्रवर्ती
२३. सिंह	२३ महाशुक्र कल्प का देव
२४. प्रथम स्वर्ग का देव	२४. नंदन
२५. कनकोज्ज्वल राजा	२५ प्राणत देवलोक में देव
२६ लान्तक स्वर्ग का देव	२६ देवानंदा के गर्भ में
२७. हरिषेण राजा	२७. *त्रिशला की कुक्षि से भगवान महावीर*
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती	
३० सहस्रार स्वर्ग का देव	
३१. नंदराजा	
३२. अच्युत स्वर्ग का देव और	
३३. भगवान महावीर	

दोनों परम्पराओं ने चूंकि महावीर के प्रमुख भवों का ही उल्लेख किया है अतः यह कोई मतभेद का विषय नहीं है। इन भवों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जीव कभी धर्म धारण करने पर सौधर्म स्वर्ग के सुखों को भोगता है तो कभी कुमार्गगामी होकर सप्तम नरक के भी दारुण दुःखों को भोगता है। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से महावीर का जीव संसरण करता हुआ अपनी सिंह पर्याय में अजितंजय नामक चारण ऋषिधारी मुनि से संबोधन पाता है और संबोधन पाने के बाद उसके अन्तःकरण से क्रूरता का विपाक्त-भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नयसार के भव में मुनि को आहारदान और उनके पवित्र उपदेश से उसके जीवन में परिवर्तन आता है। कहा जाता है कि महावीर के जीव में यहीं से प्रबल परिवर्तन प्रारम्भ होता है और यहीं वह रौद्ररस के स्थान पर शांतरस को ग्रहण कर लेता है। पुन. वह साधना से भटक भी जाता है किन्तु अन्त में पुन. प्रबुद्ध होकर अपना चरम विकास कर लेता है।

पूर्वभव की परम्परा पर आज की प्रगतिशील पीढ़ी को भले ही विश्वास न हो पर यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं कि हमारी जन्म-परम्परा हमारी कर्म-परम्परा पर आधारित है। महावीर की पूर्वभव-परम्परा भी उनके भावों और कर्मों के अनुसार निश्चित हुई है। इस निश्चितीकरण में जैनधर्म सर्वज्ञ तीर्थंकर के सर्वतोमुखी ज्ञान को आधार स्वरूप मानता है। महावीर ने तीर्थंकरत्व की प्राप्ति तक अनंत भव धारण किये होंगे पर उन भवों में से प्रमुख भवों का ही उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में किया गया है।

माता-पिता

छठी शताब्दी ई० पू० में वैशाली वज्जी गणतन्त्र की राजधानी थी। उसके

शासक ज्ञातृकुलीय लिच्छवि क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ थे। राजा सिद्धार्थ के अपर नाम श्रेयांस और यशस्वी भी मिलते हैं। वे इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। पञ्ञापना-सूत्र और ठाणांगसूत्र के अनुसार यह इक्ष्वाकुवंश आर्यों के छः कुलों के अन्तर्गत निर्दिष्ट है—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञातृ (लिच्छवि और वैशालिक) एवं कौरव। ज्ञातृ-कुल के आधार पर ही पालि-प्राकृत साहित्य में महावीर को निगण्ठ 'नातपुत्त' कहा गया है।

राजा सिद्धार्थ का पाणिग्रहण वैशाली के लिच्छवि प्रधान राजा चेटक की पुत्री (दिगम्बर परंपरानुसार) अथवा बहिन (श्वेताम्बर परम्परानुसार) वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला प्रियकारिणी के साथ हुआ था। त्रिशला को विदेहदिन्ना अथवा विदेहदत्ता भी कहा गया है। दोनों का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त सुखद एवं आध्यात्मिक था। लक्ष्मी और सौन्दर्य के साथ सरस्वती का सुन्दर समागम था।

गर्भापहरण

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के काल में क्षत्रिय वर्ण का प्रभाव अधिक बढ़ रहा था और ब्राह्मण वर्ण में हिंसकवृत्ति पनप रही थी एवं वह अपने कर्तव्य से विमुख होता चला जा रहा था। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार भी ब्राह्मण वर्ण उस युग में भौतिकवादी हो गया था और उसे अध्यात्म की शिक्षा लेने के लिए क्षत्रियों की शरण में जाना पड़ता था। और यह मान्यता जैन-बौद्ध-वैदिक परम्परा में दृढ़ हो चुकी थी कि महापुरुष क्षत्रियकुल में ही जन्म लेते हैं। क्योंकि उनमें ज्ञान और पुरुषार्थ (कर्म) का मधुर समन्वय हो सकता है। आचारांगादि में महावीर के गर्भापहरण की घटना इस प्रकार मिलती है।

वैशाली के ब्राह्मण कुण्डग्राम में ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवानन्द[ा] रहती थी। उसने स्वप्न में देखा कि उसके गर्भ में कोई महान् व्यक्तित्व—तीर्थं[कर] आया हुआ है। इन्द्र ने यह बात अवधिज्ञान से जान ली और चूंकि तीर्थंकर का ज[न्म] क्षत्रियकुल में ही होना है इसलिए उसने हरिणगमेषी नामक देव को उस गर्भ[का] अपहरण करके उसे क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में नियोजित करने की आज्ञा दे[दी।] प्रथम ८२ दिन तक महावीर देवानन्दा के गर्भ में रहे और बाद में त्रिशला के ग[र्भ में] पहुंच गये। महावीर ने मरीचि भव में नीच गोत्र कर्म का बन्ध किया था। इसी[लिए] उन्हें ब्राह्मणी के गर्भ में कुछ समय तक रहना पड़ा।[४]

इस घटना का उल्लेख ठाणांग (सूत्र ७३०), समवायांग (सूत्र ८३), आ[चारांग] (२ १५), भगवती सूत्र (शतक ५, उद्देश ४), आदि श्वेताम्बरीय आगम सा[हित्य में] उपलब्ध होता है। मथुरा में प्राप्त एक प्लेट क्रमांक १८ पर भी डॉ० बूलर ने

४ आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पन्द्रहवां अध्याय; कल्पसूत्र, १७ सुबोधिका

नेमेसो पड़ा है जो भगवान महावीर के गर्भ परिवर्तन का सूचक है।[5] यह चित्रण आगम परम्पराश्रित रहा है। परन्तु दिगम्बर परम्परा इस प्रकार के गर्भापहरण की बात स्वीकार नहीं करती। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी दोषी और पं० दलसुख मालवणिया आदि श्वेताम्बर विद्वान भी प्रस्तुत घटना पर विश्वास नहीं करते।[6]

पावन धारा पर

ई० पू. ५९९ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के समय नन्द्यावर्त राजप्रासाद में रात्रि के अन्तिम प्रहर में त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के पूर्व त्रिशलादेवी को सोलह (दिगम्बर परम्परानुसार) अथवा चौदह (श्वेताम्बर परम्परानुसार) स्वप्न दिखाई दिये थे जिनका जैन साहित्य में विविध प्रकार से विश्लेषण किया गया है। ये स्वप्न पुत्र के प्रभावक व्यक्तित्व के दिग्दर्शक माने जाते हैं। माता-पिता और परिजनों ने बालक का नाम वर्द्धमान रखा। इस नामकरण के पुनीत अवसर पर राज्य-स्तर पर विविध उत्सव हुए। वैशाली का प्रत्येक घर दीपक की चमकती हुई ज्योति से जगमगा उठा, मानो अज्ञानान्धकार को दूर हटाने के लिए तेजस्वी सूर्य का उदय हुआ हो। जैनशास्त्रों में इन शुभ अवसरों का नामकरण गर्भ कल्याणक एवं जन्म कल्याणक के रूप में हुआ है।

महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य बिहार प्रान्त को अधिक मिला है। भगवान महावीर का भी जन्मस्थान बिहार के ही अन्तर्गत वैशाली (आधुनिक बसाढ़) नामक नगर में माना गया है। जन्मस्थान के विषय में दोनों परम्पराओं में प्रायः मतैक्य दिखता है। दिगम्बर परम्परा महावीर का जन्मस्थान कुण्डपुर अथवा कुण्ड ग्राम मानती है और श्वेताम्बर परम्परा मुंगेर जिले में लछुआड़ के पास क्षत्रियकुण्ड को उनके जन्मस्थान होने का सौभाग्य प्रदान करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये दोनों परम्परायें तथ्यसंगत प्रतीत होती हैं। क्षत्रियकुण्ड कुण्डपुर का ही एक भाग था।

मध्यप्रदेश में सोलह जनपदों में विदेह नामक जनपद था जिसकी राजधानी सुरम्य नगरी मिथिला थी। साधारणतः विदेह के पूर्व में कौशिकी (आधुनिक कोसी) पश्चिम में गण्डकी, दक्षिण में गंगा और उत्तर में हिमालय प्रदेश था।[7] कालान्तर में विदेह की राजधानी होने का गौरव वैशाली को भी मिला। सम्भव है, यह नगर आवश्यकता पड़ने पर विस्तार (विस्तृत) किया गया हो अथवा यह भी सम्भव है कि किसी

---

५ The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, p 25

६ श्रमण भगवान महावीर, प्रथम, [illegible], १९७२ पृ०, ६; और भी देखिए— चार तीर्थंकर— पं० सुखलाल जी, भगवान महावीर— दलसुख मालवणिया, [illegible], द्वितीय [illegible] की भूमिका।

७ बृहद् विष्णुपुराण, मिथिला खण्ड

विशाल नामक राजा द्वारा इसकी स्थापना की गई हो।[८] वैशाली (बिहार) जिले के अन्तर्गत विद्यमान आज का बसाढ़ ग्राम प्राचीन वैशाली बताया जाता है। यह कथन इससे भी प्रमाणित होता है कि बसाढ़ के उत्खनन से अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर 'वैशाली' शब्द उत्कीर्ण मिला है। यहीं विशाल राजा का गढ़ भी बताया जाता है।

वैशाली महानगर के अन्तर्गत कुण्डग्राम अथवा कुण्डपुर था जिसके दो भाग थे—क्षत्रिय कुण्डपुर और ब्राह्मण कुण्डपुर। प्राचीन काल में प्रायः वर्ण के आधार पर ग्रामों के भाग-उपभाग बना दिये जाते थे। महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्डपुर में हुआ। चूँकि समूचा नगर वैशाली के नाम से पुकारा जाता था अतः महावीर को जैन ग्रन्थों में वैशालिय (वैशालिक) भी कहा गया है। 'वैशालिय' कहे जाने का कारण यह भी था कि उनका कुल और प्रवचन आदि विशाल और प्रभावक थे।[९] वैशाली उस समय मगध का भाग न होकर विदेह का ही भाग था। इसलिए महावीर को वैदेहिक और महावीर की माता त्रिशला को विदेहदत्ता कहा गया है।

इसी वैशाली के पास कोल्लाग सन्निवेश, कर्मारग्राम, वणिग्ग्राम, आदि अनेक ग्राम और नगर भी थे जिनका विशेष सम्बन्ध भगवान महावीर के जीवन से रहा है। जिसे उस समय कर्मारग्राम कहा गया आज वह कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। जिसे उस समय कोल्लाग कहते थे उसे आज कोल्हुआ कहा जाता है। यहीं एक अशोक स्तम्भ भी मिला है। प्राचीन कुण्डपुर आज बसाढ़ के पास बसा वासुकुण्ड कहा जा सकता है।

वैशाली के आसपास एक जथारिया नामक जाति रहती है जो अपने को महावीर का वंशज बताती है। यह सम्भव भी है क्योंकि जथारिया शब्द ज्ञातृपुत्र के 'ज्ञात' शब्द से बना प्रतीत होता है।

बाल्यावस्था

बालक वर्द्धमान का लालन-पालन राजशाही ठाठ-बाठ से हुआ। पंचधात्रियों की देखरेख में उनका शारीरिक और मानसिक विकास अहर्निश वृद्धिगत होने लगा। उनकी बाल्यचेष्टाएँ भी हृदयहारी और सौम्य थीं। वह निर्भय और साहसी था।

एक बार बालक वर्द्धमान अपने समवयस्क मित्रों के साथ प्रमदवन (आमली) खेल खेल रहे थे। मित्रों में काकधर, पक्षधर और [illegible] नामक राजकुमारों का उल्लेख आता है।[१०] इस खेल में जो बालक सर्वप्रथम वृक्ष पर चढ़ जाता और उसे

८ वाल्मीकि रामायण, आदिकाण्ड ४७, ११-१२; भागवत पुराण ९-२-३३
९ विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा।
विशालं प्रवचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः॥
१० वर्द्धमान पुराण—[illegible] (हस्त प्रति) पृ० ३१० [illegible]
[illegible]

उतर आता, वह पराजित बालकों के कन्धों पर बैठकर उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है। उस समय बालक वर्द्धमान खेल खेल रहा था कि अचानक एक विकराल भीमकाय सर्प वृक्ष पर आ गया। सभी बालक तो भयभीत होकर भाग खड़े हुए पर वर्द्धमान ने उसकी पूँछ पकड़कर उसे बहुत दूर फेंक दिया। इसे 'आमलय खेड' कहा गया है। यह घटना राजा के कानों तक पहुँची। बालक की निर्भयता और …ीता था यह एक विशिष्ट प्रमाण था इसलिए राजा ने वर्द्धमान का अपर नाम …ावीर' रख दिया। महावीर के अतिरिक्त वर्द्धमान के सन्मति, वीर और अतिवीर …म भी मिलते हैं। इन नामों के पीछे भी इसी प्रकार की कुछ घटनायें सम्बद्ध हैं। …लक के इन नामों में वर्द्धमान और महावीर नाम अधिक प्रचलित हुए।

उक्त घटना के पीछे संगमदेव की भूमिका बतायी जाती है। उसने महावीर वर्द्धमान को साधना काल में भी अनेक प्रकार से कठोर कष्ट दिये। आमली क्रीडा का वर्णन मथुरा शिल्प में उपलब्ध हुआ है। महावीर की बाल-लीलाओं का और कोई महत्वपूर्ण प्राचीन उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया।

शिक्षा-दीक्षा

महावीर ने अपनी मेधावी प्रतिभा के बल पर बहुत शीघ्र ही ज्ञानार्जन कर लिया। जैन परम्परा के अनुसार वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारी थे। अतः किसी आचार्य के पास उनकी शिक्षा-दीक्षा मात्र व्यावहारिक थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार सञ्जयन्त और विजयन्त नामक मुनियों ने तो उनके दर्शन करके ही अपनी शंकायें दूर कर ली। जो भी हो, यह निश्चित था कि महावीर किशो-रावस्था में ही अपूर्व प्रतिभा के धनी, विद्वान और चिन्तक हो गये थे। यह आश्चर्य का विषय है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में विद्याशाला में गमन तथा इन्द्र के साथ प्रश्नचर्या को छोड़कर कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलते।

गार्हस्थिक जीवन

राजकुमार वर्द्धमान गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भोग-वासनाओं से अलिप्त थे। संसार की गहनता और असारता का अनुभव उन्हें हो चुका था। आध्यात्मिक चिन्तनशीलता अहर्निश बढ़ती चली जा रही थी। इसी अवस्था में उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा गया। स्वभावतः वे इसे कैसे स्वीकारते? माता-पिता का स्नेह-आग्रह और भेद-विज्ञान की प्रखरता इन दोनों स्थितियों में सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय—यह विकट समस्या महावीर के सामने थी।

इस सन्दर्भ में दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने अन्त में अविवाहित रहने का निर्णय लिया। पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस परिस्थिति में उन्होंने विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फलतः वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय पुत्री यशोदा के साथ शुभ मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण संस्कार हो गया। कालान्तर में वे एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका

विवाह सम्बन्ध जामालि के साथ हुआ था। यह जामालि साधना-काल में कुछ समय तक महावीर का शिष्य भी रहा।[११]

वस्तुत, महावीर जैसे वीतरागी और निस्पृही व्यक्तित्व के लिए विवाह करना अथवा नहीं करना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। विवाह किया भी होगा तो वे मन से अविवाहित रहे होंगे। भौतिक साधनों के रहते हुए भी निर्मोही बन जाने में कहीं अधिक वैशिष्ट्य है। हम यों भी कह सकते हैं कि महावीर भोगों में रहते हुए भी निर्मोही रहे, विवाहित रहते हुए भी अविवाहित रहे और घर में रहते हुए भी बेघर रहे। वीतरागता का सही परिचय ऐसी अवस्थाओं में ही मिल पाता है।

महाभिनिष्क्रमण : अन्तर्ज्ञान की खोज में

महाभिनिष्क्रमण : अंतर्ज्ञान की खोज में

महाभिनिष्क्रमण

लगभग तीस वर्ष की अवस्था तक भगवान महावीर गृहस्थावस्था में ही रहकर आत्मचिंतन करते रहे। महावीर जब २८ वर्ष के थे तभी माता-पिता के स्वर्गवास ने उन्हें और भी आत्मोन्मुखी बना दिया। भेदविज्ञान जागरित होते ही उन्हें संसार की ऐश्वर्यमयी सम्पदा तृणवत् प्रतीत होने लगी। पदार्थ की विनश्वरशीलता का दर्शन उन्हें स्पष्टतर होता गया। वैराग्य की भावना और दृढ़तर हो गई। फलतः उन्होंने मृगशिर-कृष्णा दशमी तिथि को चतुर्थ प्रहार में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के योग में आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली।[1] इस अवसर पर सभी गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। सभी के समक्ष महावीर ने पंचमुष्टि केशलुञ्चन किया जो संसार की समस्त वासनाओं से विमुक्त हो जाने के उपक्रम का प्रतीक है।

इस सन्दर्भ में दो परम्परायें उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने प्रारम्भ से ही दिगम्बर वेष धारण किया पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दीक्षा ग्रहण करते ही शक्रेन्द्र ने उन्हें देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया। वह वस्त्र उनके स्कन्ध पर रहा। कुछ ग्रन्थकार दरिद्र ब्राह्मण की याचना पर आधा प्रदान करने का उल्लेख करते हैं और कुछ ग्रन्थकार नहीं। और वह वस्त्र तेरह माह तक उनके पास रहा फिर वह नीचे गिर गया।

जैनेतर साहित्य में महावीर के इस महाभिनिष्क्रमण को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। पर कुछ समय बाद साधना में जिस प्रकार की सघनता और निर्मलता आती गई, वह विश्रुततर होती गई और जनसमाज के आकर्षण का केन्द्र बनती गई। पालि साहित्य में उनकी इसी अवस्था का वर्णन मिलता है। वहाँ उन्हें 'निगण्ठनातपुत्तो' कहकर अनेक बार स्मरण किया गया है। यहाँ 'निगण्ठ' शब्द अचेलक और निष्परिग्रही होने का प्रतीक है।

छद्मस्थ साधना और विशिष्ट घटनायें

१ साधनाकाल में महावीर अपना परिचय 'भिक्खु' के रूप में देते रहे।[2]

---

१ जय धवला भाग १, पृ० ७८; तिलोयपण्णत्ति, ४, ६६७; उत्तरपुराण ७४, ३०३-४।

२ आचारांग, ६, २, १२

उनके लिए 'मुणि' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3] ये दोनों शब्द महावीर की साधना के दिग्दर्शक हैं। गृह त्याग करने के उपरान्त साधक महावीर केवलज्ञान की प्राप्ति के निमित्त लगभग बारह वर्ष तक सतत साधना करते रहे। इसी काल को छद्मस्थ कहा गया है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे महावीर के इस छद्मस्थ जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया। उत्तरपुराण मे मात्र छत्तीस श्लोकों (३१७-३५२) में इस वर्णन को पूरा कर दिया गया। जबकि श्वेताम्बर परम्परा मे हेमचन्द्र ने इसके लिए समूचे दो सर्ग (६९५+६५८=१२५३ श्लोक) समर्पित किये। उत्तरपुराण मे महादेव रुद्र के उपसर्ग और चन्दना के भिक्षादान का ही वर्णन मिलता है। महावीर के विशेष भ्रमणादि का कोई उल्लेख वहाँ नहीं। इस स्थिति मे आचाराग आदि ग्रन्थों मे वर्णित उनकी कठोर साधना पूरक दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है।

छद्मस्थकाल और वर्षावास

ठाणागसूत्र मे महापद्मचरित्र के प्रसग मे महावीर के विषय मे लिखा है कि उन्होंने तीस वर्ष गृहस्थावस्था मे, बारह वर्ष तेरह पक्ष केवलज्ञान प्राप्ति मे और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म प्रचार मे बिताये।[4] तदनुसार महावीर ने महाभिनिष्क्रमण से लेकर केवलज्ञान प्राप्ति तक छद्मस्थावस्था मे जिन स्थलो मे बिहार और वर्षावास किया, उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१ कुण्डग्राम, कर्मारग्राम (कम्मन-छपरा), कोल्लाग सन्निवेश, मोराक सन्निवेश, शालखण्डवन, दुइज्जतग, अस्थिक ग्राम (वर्षावास)।

२ मोराक सन्निवेश, दक्षिण-उत्तर वाचाला, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।

३. कोल्लाग, सुवर्णखल, ब्राह्मणग्राम, चम्पा (वर्षावास)।

४. कालाय, पत्त, कुमाराक, चोराक, पृष्ठ चम्पा (वर्षावास)।

५ कयगला, हल्लिदुग, आवर्त, कलकबुका, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नगला, लाढ़ (लाट) देश, मलय, भद्दिल (वर्षावास) (वैशाली के पास)।

६ कदली, तबाय, कूविय, वैशाली, जम्बूसड, कुपिय, ग्रामाक, भद्दिया (वर्षावास)।

७. मगध, आलभिया (वर्षावास)।

८ कुण्डाक, मद्दमारग, लोहागला, गोभूमि, मर्दन, शालवन, पुरिमताल, उन्नाग, राजगृह (वर्षावास)।

---

३ आचाराग ६, १, ६ २०

४ ठाणागसूत्र, ९.३६९३, वृत्ति पृ० ४६१/१; धवला मे महावीर का केवलिकाल २९ वर्ष ५ मास और २० दिन लिखा है।

यह उत्तर सुनकर वह मनुष्य रूपी इन्द्र बड़ा प्रभावित हुआ। महावीर के न चाहते हुए भी त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के अनुसार अपने सिद्धार्थ नामक एक सहायक को उनके संरक्षण के लिए नियुक्त कर दिया। इस सिद्धार्थ को वहाँ एक व्यन्तर देव कहा है।[६]

आचारांग और कल्पसूत्र में इसके बाद की गई उनकी तपस्या का विस्तृत वर्णन मिलता है। महावीर अचेलक अवस्था में थे इसलिए उन्हें शीत, उष्ण, दंशमशक आदि की बाधायें होना स्वाभाविक थीं। भोगवासना से पीड़ित महिलाओं का भी उनकी ओर आकर्षित होना सहज ही था। निर्मोही महावीर इन सभी प्रकार की बाधाओं को निर्द्वन्द भाव से सहते हुए विचरण करते रहे।

कतिपय प्रतिज्ञायें : कठोर तपस्या का अभिरूप

मोराक सन्निवेशवर्ती 'दूईज्जन्तक' नामक पाषण्डस्थ आश्रम का कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था। कुलपति की अभ्यर्थना पर महावीर ने अपना वर्षावास वहीं करने का निश्चय किया। महावीर की कठोर नि:स्पृही साधना देखकर आश्रमवासी दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त वर्षा न होने के कारण वनस्पति, घास आदि पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं हुई। फलतः गायें आकर पर्णकुटी की घास खाने लगी। आश्रमवासी उन्हें हटाकर अपनी पर्णकुटियों की रक्षा करने लगे। पर निष्परिग्रही महावीर ने कभी ऐसा नहीं किया। वे तो अपने ध्यान में दत्तचित्त रहते रहे। आश्रमवासियों ने इसकी शिकायत कुलपति से की। कुलपति ने महावीर से कहा कि कम से कम आपको अपनी पर्णकुटी की रक्षा तो करनी ही चाहिए। महावीर कुलपति के आग्रह से सहमत नहीं हो सके और उन्होंने वहाँ से प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने यह निश्चय इसलिए किया कि वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते थे। वे तो पूर्ण समभावी थे। प्रस्थान करने के पूर्व साधक महावीर ने निम्नलिखित पाँच प्रतिज्ञायें की।[७]

१. अप्रीतिकारक स्थान में वास नहीं करूँगा।
२. सदैव ध्यानस्थ रहूँगा।
३. मौनव्रती रहूँगा।
४. पाणितल में भोजन ग्रहण करूँगा। और
५. गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा।

---

६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०, ३, ३३

७ नाप्रीतिमद्‌गृहे वासः स्थेयं प्रतिमया सह।
न गेहिविनयः कार्यो मौनं पाणौ च भोजनम्॥
—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ० २८८

शूलपाणिकृत उपसर्ग : एक प्रतिबोधन

मोराकसन्निवेश से विहार कर महावीर अस्थिग्राम पहुँचे और वहीं वे अनुमति लेकर शूलपाणि यक्ष के आयतन में ठहर गये। कहा गया है, एक बलशाली बैल, जिसकी सेवा-शुश्रूषा की ओर ग्रामवासियों ने उपेक्षा दिखाई, मर कर यक्ष हो गया था और वही उन सब को सताता था। उसी के सम्मान में ग्रामवासियों ने यह मन्दिर बनवाया था। विकट स्थिति देखकर लोगों ने महावीर को वहाँ ठहरने के लिए मना किया, फिर भी वे उसी मन्दिर में ध्यानस्थ हो गये। नियमानुसार रात्रि में यक्ष आया और उसने महावीर को विविध प्रकार से तीव्र कष्ट दिये। परन्तु वे साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। इस घटना से यक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त में उसने भगवान से क्षमा माँगी और पश्चात्ताप करने लगा। फलत. महावीर ने उसे प्रतिबोध दिया—"तू आत्मा को पहचान। आत्मवत् मानकर किसी को कष्ट न दे। इन पापों का फल बड़ा दु:खदायी होता है।" यक्ष ने भगवान की आज्ञा सहर्ष स्वीकार की और नतमस्तक होकर वहाँ से चला गया।[८]

दश स्वप्न : भविष्यबोध

उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि शेष थी। महावीर ध्यानस्थ खड़े थे। फिर भी क्षणभर के लिए उन्हें निद्रा आ गई। इस बीच उन्होंने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे—

१. ताल-पिशाच को स्वयं अपने हाथ से गिराना।
२. श्वेत पुंस्कोकिल का सेवा में उपस्थित होना।
३. विचित्र वर्णवाला पुंस्कोकिल सामने दिखाई देना।
४. सुगन्धित दो पुष्पमालायें दिखाई देना।
५. श्वेत गो-समुदाय दिखाई देना।
६. विकसित पद्म सरोवर का दर्शन।
७. स्वयं को महासमुद्र पार करते देखना।
८. दिनकर किरणों को फैलते हुए देखना।
९. अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्ठित करते हुए देखना, और
१०. स्वयं को मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखना।

अस्थिग्राम में ही एक उत्पल नामक निमित्तज्ञानी था जो पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था। यक्षायतन में महावीर के ठहरने का समाचार सुनकर वह अनेक आशंकाओं की सम्भावना से चिन्तित हो उठा। प्रातःकाल होते ही वह इन्द्रशर्मा नामक पुजारी के साथ भगवान महावीर के दर्शन करने आया। साथ ही बड़ा भारी

---

८ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १०.३, १३१-१३२

जनसमुदाय भी था। महावीर को सकुशल पाकर सभी को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। निमित्तज्ञ उत्पल ने महावीर के स्वप्नों का फल क्रमश: इस प्रकार बताया—

१ आप मोहनीय कर्म का विनाश करेंगे।
२ आपको शुक्लध्यान की प्राप्ति होगी।
३ आप विविध ज्ञानरूप द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।
४ चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं समझ सका।
५ चतुर्विध संघ की आप स्थापना करेंगे।
६ चारों प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे।
७ आप संसार सागर को पार करेंगे।
८ आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।
९ आपकी कीर्ति त्रिलोक में व्याप्त होगी, और
१० सिंहासनारूढ़ होकर आप लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

जिस चतुर्थ स्वप्न का उत्तर निमित्तज्ञ उत्पल नहीं जान सका। उसका फल महावीर ने स्वयं बताया कि मैं दो प्रकार के धर्म का कथन करूँगा—श्रावक धर्म और मुनिधर्म। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्म को सुव्यवस्थित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य महावीर की दृष्टि में था।

निमित्तज्ञान प्रभावात्मकता

साधक महावीर अस्थिग्राम में प्रथम वर्षावास समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को मोराक सन्निवेश पहुँचे। वहाँ वे नगर के बाहर के उद्यान में ठहरे। नगर में एक अच्छन्दक नामक पाखण्डी ज्योतिषी रहता था। उसकी आजीविका का साधन ज्योतिष ही था। उस समय निमित्तज्ञानी का बहुत आदर-सम्मान होता था। अच्छन्दक को भी प्रतिष्ठा मिली उसकी आड़ में उसने अनेक दुष्कार्य करना प्रारम्भ कर दिये। महावीर के आध्यात्मिक तेज से सारी जनता इतनी अधिक प्रभावित हो गई कि अच्छन्दक का प्रभाव उसके मन से जाता रहा। समूचा नगर उनकी पूजा करने लगा। अच्छन्दक के पाप भी धीरे-धीरे प्रकट हो गये। अब अच्छन्दक की आजीविका का साधन विच्छिन्न होने लगा। तब असहाय होकर वह महावीर के पास आया और कहने लगा—"यहाँ आपके उपस्थित रहने से मेरी आजीविका समाप्त-प्राय हो रही है। अन्य भी स्थान हैं। यदि आप यहाँ से चले जायें तो मेरा कल्याण हो जायेगा।"[१] अत: दयालु महावीर ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अन्यत्र ध्यानस्थ हो गये।

चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध

कनकखल आश्रम में महावीर सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के किनारे बने

१ आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २७५

वाचाला के उत्तरभाग की ओर चल पड़े। बीच मे कनकखल आश्रम मिला। वहां ग्वालों ने महावीर को आगे बढ़ने से रोका और कहा कि आगे वन मे चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष भयंकर सर्प रहता है। वह किसी को भी देखते ही विष-वमन करने लगता है। उसके विष वमन करने के कारण वन वृक्ष भी सूखने लग गये हैं। महावीर ने ग्वालों की बातो पर विशेष ध्यान नहीं दिया और वे आगे बढ़ते गये। उन्होंने सोचा कि इस चण्डकौशिक की अशुभ वृत्तियो को शुभ वृत्तियो की ओर मोड़ा जाना चाहिए।

कहा जाता है, चण्डकौशिक अपने पूर्वजन्म मे कठोर तपस्वी था। उसके पैर के नीचे एक बार एक मेंढकी दबकर मर गई जिसकी उसने प्रतिक्रमण करते समय आलोचना नहीं की। शिष्य द्वारा स्मरण कराये जाने पर वह क्रोधित होकर उसे मारने दौड़ा। पर बीच मे ही एक स्तम्भ से सिर टकरा जाने पर वह तत्काल चल बसा और कनकखल आश्रम के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से उसने जन्म लिया। बालक का नाम कौशिक रखा गया। पर अत्यधिक चण्ड प्रकृति होने के कारण उसका नाम चण्डकौशिक पड गया। चण्डकौशिक अपने आश्रम की रक्षा का ध्यान अधिक रखता था। एक बार समीपवर्ती सेयविया नगरी के राजकुमारो ने आश्रम वन को उजाड दिया। चण्डकौशिक उन्हें मारने के लिए परशु लेकर दौड़ा। पर बीच मे ही वह गड्ढे मे गिरकर मर गया और दृष्टिविष नामक विकराल सर्प हुआ।

महामना महावीर को ध्यानस्थ देखकर चण्डकौशिक सर्प को बड़ा विस्मय हुआ। वह क्रुद्ध होकर फूत्कार करने लगा। फिर भी महावीर को अविचल देखकर उनके पैर मे तीव्र दृष्टिपात कर दिया। फलस्वरूप उनके पैर से रक्त के स्थान पर दुग्धधारा प्रवाहित होने लगी। चण्डकौशिक यह देखकर स्तब्ध रह गया। इस बीच महावीर का ध्यान समाप्त हो गया और उन्होने चण्डकौशिक को उद्बोधन दिया—"उवसम भो चण्डकोसिया ! हे चण्डकौशिक ! शान्त हो जाओ। तुम अपने ही पापो के कारण ससार मे भटक रहे हो। अब विकार भावो को छोडो और अपना भविष्य समालो।"

साधक महावीर की मर्मस्पर्शिनी वाणी को सुनकर चण्डकौशिक को जाति-स्मरण हो आया। उनके निश्छल, शान्त और सौम्य भाव को उसने परखा और प्रतिज्ञा की कि मरण पर्यन्त वह न तो अब किसी को सतायेगा और न ही भोजन ग्रहण करेगा।

चण्डकौशिक को शान्त और निश्चल तथा महावीर को सकुशल दे
वासियो ने आश्चर्य व्यक्त किया। वे महावीर के प्रशसक बन गये। इधर
को निश्चल और शान्त समझकर लोगो ने उसे पत्थर मारे और असह्य
पर चण्डकौशिक उस पीडा को समभाव से सहन करता रहा और शुभ
उसने अपना देह त्याग दिया।[१०]

---

१० आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २७८–७९

मक्खलि गोशालक से भेंट एक नया अध्याय

साधक महावीर एक बार तन्तुवायशाला मे ठहरे हुए थे। मक्खलिपुत्र गोशालक भी वहीं रुका हुआ था। एक बार गोशालक के पूछने पर महावीर ने बता दिया कि तुम्हे आज भिक्षा मे कोदो का बासा चावल (भात), खट्टी छाछ और खोटा रुपया मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर भी गोशालक को भिक्षा मे यही सब कुछ मिला। इस घटना से वह नियतिवादी बन गया।[११]

इधर महावीर पारणा लेकर नालन्दा से कोल्लाग सन्निवेश पहुँचे। वहाँ बहुल नामक ब्राह्मण के घर आहार लिया। गोशालक भी महावीर को खोजते-खोजते कोल्लाग पहुँच गया और वहाँ उसने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।[१२]

इसके पश्चात् छह वर्ष तक गोशालक अविरल रूप से महावीर के साथ रहा। इस बीच अनेक ऐसी घटनायें हुईं जिनसे गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर दृढ़तर होता गया और अन्ततः वह घोर नियतिवादी हो गया।

३ कोल्लाग सन्निवेश से विहारकर महावीर सुवर्णखल पहुँचे। मार्ग मे कुछ ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने कहा—'रुकिये, हम लोग खीर खाकर चलेंगे।' महावीर ने कहा—'यह खीर पक नहीं पायेगी। उसके पकने के पूर्व ही हाँडी फूट जायेगी।' महावीर की यह सूक्ष्मान्वेक्षण शक्ति का प्रदर्शन था। अनुमान सही निकला। गोशालक का विश्वास नियतिवाद पर और बढ गया।

४ महावीर के साथ रहते हुए भी गोशालक की वृत्तियाँ शान्त नहीं हुई थीं। वह क्रोधी और रागी प्रकृति का था। इसलिए उसे अनेक स्थानों पर अपमान सहन करना पड़ा। कभी वह महिलाओं से छेड़-छाड़ करता तो कभी परमतावलम्बी तथा पार्श्व परम्परानुयायी साधुओं और श्रावकों से झगड पड़ता। इसलिए जनसमुदाय के रोष का वह शिकार हो जाता।

पार्श्वस्थ साधुओं से भेंट . पुरातन परम्परा का एकीकरण

कूर्मारक सन्निवेश मे पार्श्वनाथ परम्परा के सन्तानीय साधुओं से गोशालक की भेंट हुई। महावीर तो उद्यान मे ही ध्यानस्थ रहे पर गोशालक गाँव मे भिक्षा को गया। वहाँ विविध वस्त्र पहने पार्श्वनाथ परम्परा के साधुओं से गोशालक की भेंट हुई और उनसे विवाद होने पर गोशालक ने उपाश्रय जल जाने का अभिशाप भी दिया।

महावीर से भी उनकी भेंट हुई और वे बडे प्रसन्न हुए। सन्तानीय साधुओं के प्रधान आचार्य मुनिचन्द्र ने तो उसी समय अपने मुख्य शिष्य को कार्यभार सौंप

---

११ आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग पृ० २८३
१२ भगवती शतक, १५. १. ५४२
१३ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ३, ४५२

स्वयं जिनकल्प दीक्षा धारण कर ली। साधनाकाल मे ही एक आरक्षक पुत्र ने उन्हें तस्कर समझकर उनका अन्त कर दिया। शुभ वृत्तियों के कारण उन्होंने उसी जन्म मे निर्वाण प्राप्त कर लिया।[१३]

अग्नि-उपसर्ग : कठोर साधना

५. हलिदुय में साधक महावीर एक हलिद्दग नामक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मे स्थिर हो गये। उसी वृक्ष के नीचे कुछ और भी व्यक्ति ठहरे हुए थे। वे रात्रि मे आग जलाकर शीत से बचते रहे और प्रातःकाल उसे बिना बुझाये ही वहाँ से चल पड़े। संयोग से वह आग फैल गई और उसकी लपटों मे महावीर के पैर झुलस गये। फिर भी वे विचलित नहीं हुए।[१४]

अनार्य देशों मे भ्रमण : समभावशीलता

इसके बाद साधक महावीर के मन मे यह विचार आया कि विहार भूमि तो उनसे परिचित है। ऐसे स्थान पर क्यो न जाया जाय जहाँ कि उनका कोई परिचित ही न हो। ऐसे अपरिचित स्थानों पर ही साधना-ज्योति में चमक आ सकती है और कर्मों की निर्जरा हो सकती है। यह सोचकर महावीर ने लाढ देश मे जाने का निश्चय किया। यह देश उस समय असंस्कृत और असभ्य था। इसलिए साधारणतः वहाँ मुनियों का विहार नहीं होता था। इस दृष्टि से महावीर का यहाँ विहार विशेष महत्त्वपूर्ण था।

महावीर लाढ देश पहुँचे परन्तु वहाँ उन्हें अनुकूल भोजन और आवास भी नहीं मिल सका। वहाँ के लोग उन पर कुत्ते छोड देते, लाठियाँ मारते और उन्हें घसीटते। इन सभी उपसर्गों को महावीर का समभावशील व्यक्तित्व सहर्ष सहन करता रहा। उन्हें न आहार का लोभ था, न शरीर से मोह और न किसी प्रकार की विषय-वासना की इच्छा। इसलिए वीतरागी होकर सभी प्रकार के उपसर्ग सहन करने मे उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई।[१५]

गोशालक से पार्थक्य : आवश्यकता की अनुभूति

अनार्य देशो से लौटकर भ्रमण करते हुए साधक महावीर ने वैशाली की ओर विहार किया। मार्ग मे ही गोशालक ने उनसे कहा—"मुझे आपके कारण बहुत दुःख भोगने पडते हैं। अतः अधिक अच्छा यही है कि मैं आपसे पृथक् बना रहूँ।" महावीर ने उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। पार्थक्य हो जाने पर महावीर वैशाली की ओर चल पड़े और गोशालक राजगृह जा पहुँचा।

---

१३ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८६
१४ वही, पृ० २८८
१५ आचारांग, ६, ३, ४-५

उपासको और भक्तों के बीच उनका यह अनोखा आचरण, चिन्ता और चर्चा का विषय बन गया। प्रतिज्ञा के विषय में किसी को भी जानकारी नहीं थी। अभिग्रह को धारण किये हुए पाँच मास पच्चीस दिन व्यतीत हो चुके थे।

तदोपरान्त महावीर भिक्षा के लिए धनावह सेठ के घर पहुँचे। वहाँ राजकुमारी चन्दना तीन दिन की उपवासी, हथकड़ी और बेड़ी पहने हुए, सूप मे उबाला कुल्माष लिए हुए किसी अतिथि की प्रतीक्षा में थी कि उसे तेजस्वी तपस्वी महावीर आते हुए दिखे। महावीर का अभिग्रह अभी पूरा नहीं हुआ था। इसलिए जैसे ही वे वापिस जाने लगे कि चन्दना की आँखों में आँसू आ गये। तत्काल महावीर की प्रतिज्ञा अब पूरी हो चुकी थी। उन्होंने चन्दना के हाथ से पारणा कर ली। चन्दना की हथकड़ियों के बन्ध का हार बन गई। यही चन्दना कालान्तर में भगवान महावीर की प्रथम साध्वी हुई।

गोपालक उपसर्ग

१३ एक बार छम्माणि के बाहर उद्यान में महावीर ध्यानस्थ थे। वहाँ सन्ध्याकाल में एक ग्वाला अपने बैल छोड़कर गाँव चला गया। लौटने पर उसे वहाँ बैल दिखाई नहीं दिये। महावीर से पूछने पर कोई उत्तर नहीं मिला। क्रुद्ध होकर उसने उनके दोनों कानों में कांस नामक घास की शलाकायें डाल दीं और उन्हें पत्थर से ऐसा ठोक दिया कि वे परस्पर में भीतर मिल गईं। बाहर के शेष भाग को उसने तोड़ दिया ताकि कोई उन्हें देख न सके। महावीर ने इस असह्य वेदना को भी शान्तिपूर्वक सह लिया।[१७]

कर्णशलाका निष्कासन उपसर्ग

छम्माणि से महावीर मध्यम पावा पहुँचे। वहाँ भिक्षा के लिए वे सिद्धार्थ नामक वणिक के घर गये। सिद्धार्थ उस समय अपने मित्र 'खरक' नामक वैद्य से बात कर रहा था। उन दोनों ने महावीर को देखते ही उनकी वेदना का आभास कर लिया। इधर महावीर उद्यान में आकर ध्यानस्थ हो गये। सिद्धार्थ और खरक औषधियों के साथ महावीर को खोजते हुए उद्यान में पहुँचे। उन्होंने उनकी तैल-मालिश की और फिर संडासी से दोनों कानों की शलाकायें बाहर निकाल दीं। रुधिरयुक्त शलाकाओं के निकालने की तीव्र वेदना से महावीर के मुँह से एक तीखी चीख निकली। वैद्य खरक ने घाव पर संरोहण औषधि लगा दी और वन्दना करके चला गया।

आश्चर्य की बात है कि महावीर की तपस्या का प्रारम्भ भी ग्वाले के उपसर्ग से हुआ और उसका अन्त भी ग्वाले के ही उपसर्ग से हुआ।

---

१७ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० ३-२०-१

१५ पारणा तीन सौ उनचास दिन और

१६. दीक्षा का एक दिन।

केवलज्ञान की प्राप्ति

लगभग साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करते-करते साधक महावीर की आ
अनुत्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विमल होती गयी। तेरहवें वर्षायोग में वे मध्य
पावा से विहार करते हुए जम्भियग्राम पहुँचे और वहाँ के बाह्य उद्यान में ध्यान
हो गये। साधना की यह चरमावस्था थी और उसका चरमकाल भी। महावीर की
आत्मा अब पूर्णतः निर्मल हो चुकी थी। उनका राग, द्वेष, मोह समूल नष्ट हो चुका
था। फलतः वैशाख शुक्ला दशमी को दिन के चतुर्थ प्रहर में ऋजुकूला नदी के
तटवर्ती शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसनकाल में महावीर को कैवल्य की प्राप्ति
हो गई। उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय
हो गया। अब महावीर अर्हन्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। वे समस्त लोक की
समस्त पर्यायों को एक साथ हस्तामलकवत् जानने-देखने लगे।[20] यह उनके आत्मा
की अनन्त शक्ति का प्रस्फुटन था। बौद्ध साहित्य में भी उनकी सर्वज्ञता के सन्दर्भ
एकाधिक बार आये हैं।[21] वहाँ भी उन्हें गणी, गणाचार्य और तीर्थंकर कहकर
स्मरण किया गया है। कालान्तर में उनको भगवान कहकर भी सम्बोधित किया
जाने लगा। इन सभी शब्दों के पीछे भगवान महावीर के व्यक्तित्व की विशेषतायें
छिपी हुई हैं जिन्हें हम अस्वीकार नहीं कर सकते। तीर्थंकर प्रकृति का यह
परिणाम था।

जम्भियग्राम की अवस्थिति के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है। कामताप्रसादजी
का कथन है कि प्राचीन लाट देश का विजय भूमि प्रान्त वर्तमान बिहार के अन्तर्गत
छोटा नागपुर डिवीजन के मानभूमि और सिंहभूमि के समीप झरिया नामक ग्राम ही
जृम्भिक ग्राम होना चाहिए। यहाँ की बराकर नदी प्राचीन ऋजुकूला नदी होगी।
इस स्थान पर कोयला निकालते समय पत्थर निकलता है। इसलिए यही ज्ञानभूमि
है।[22] मुनिकल्याणविजयजी इस ग्राम को सम्मेदशिखर से दक्षिण में बारह कोस
पर दामोदर नदी के पास बसे जम्भिय गाँव से मिलाते हैं।[23]

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री इन दोनों मतों को स्वीकार नहीं करते। वे मुंगेर से
[दक्षि]ण की ओर पचास मील की दूरी पर स्थित जमुई गाँव को जृम्भिक ग्राम मानते

...वश्यक, भाग १, पृ ८०, निशीथ चूर्णि ५.१७०१।
विस्तार से देखिये, लेखक का ग्रन्थ—Jainism in Buddhist Literature,
नागपुर, १९७२।
भगवान महावीर।
श्रमण भगवान महावीर, पृ. २३०।

हैं। यह स्थान वर्तमान क्विल नदी के तट पर है। यह नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश है। जमुई के दक्षिण में लगभग ४-५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है, जो महावीर के केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान की स्मृति को बनाये रखने के लिए प्रसिद्ध हुआ है। इस गाँव के समीप अञ्जन नदी बहती है जो ऋजुपालिका अथवा ऋजुबालिका होना चाहिए। जमुई से राजगृह लगभग ३० मील की दूरी पर है। झरिया से चम्पा और राजगृह की दूरी सौ-सवा-सौ मील से भी अधिक है। जमुई चम्पा के भी निकट है। अतः यह निश्चित है कि भगवान महावीर का बोधि स्थान ऐसी जगह था जो राजगृह और चम्पा दोनों से ३०-३५ मील दूरी से अधिक न था। जमुई भी वज्रभूमि है। यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते हैं, पहाड़ी स्थान भी है। 'क्विल' नदी का तटवर्ती प्रदेश है। जमीन पथरीली और ऊबड़-खाबड़ है।[२४]

लगता है यही स्थान जृम्भिकग्राम होगा। ऋजुकूला का अपभ्रंश 'क्विल' हो सकता है। भगवान महावीर छम्माणि से मध्यमपावा और मध्यमपावा से जृम्भिक ग्राम पहुँचे थे। यह छम्माणि जमुई और लिछुवाड अथवा लिच्छबाड के बीच बसा सिमिरिया गाँव हो सकता है। यहीं से मध्यमपावा होते हुए भगवान जमुई ग्राम गये होंगे। अतः यही जमुई प्राचीन जृम्भिक गाँव होना चाहिए। ☆

२४ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ. १८०।

अध्याय ५

धर्मचक्रप्रवर्तन : प्राणियों के कल्याण में

इसलिए लोकभाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। प्राकृत ही सर्वसाधारण व्यक्ति की अभिव्यक्ति का साधन था। यही कारण था कि सभी श्रोतागण उनके उपदेश को भली भाँति समझ लिया करते थे। यह प्रथम समय था जबकि किसी ने लोकभाषा को इतना महत्त्व दिया। इस लोकभाषा का क्षेत्र उत्तर में वैशाली से लेकर दक्षिण में राजगृह और मगध के दक्षिणी किनारे तक तथा पूर्व में राढ़भूमि से लेकर पश्चिम में मगध की सीमा तक फैला था।

गणधर

भगवान महावीर का व्यक्तित्व बहुत अधिक लोकप्रिय हो चुका था। वे विद्वानों और मनीषियों में अप्रतिम थे। उनके उपदेश सर्वसाधारण के भी अन्तस्तल तक पहुँचने लगे थे। इसलिए वे जनसमुदाय के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु बन गये थे। इस स्थिति में यह आवश्यक था कि भगवान महावीर अपने धर्म-प्रचार के लिए कतिपय विशिष्ट विद्वानों को शिष्य बनायें जो उनके सिद्धान्तों को समुचित रूप से समझकर जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर सकें। इन्हीं शिष्यों को शास्त्रीय परिभाषा में गणधर कहा गया है।

महावीर स्वामी के इस प्रकार के ग्यारह गणधर बताये गये हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। ये सभी विद्वान महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके पास आए और अपने प्रश्नों का समाधान पाकर उनके परम शिष्य बन गये।

. इन्द्रभूति गौतम

मगधवर्ती गोवर ग्राम में वसुभूति नामक एक ब्राह्मण विद्वान रहता था। उसके न पुत्र थे—इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति। ये तीनों पुत्र भी वैदिक साहित्य र क्रियाकाण्ड के कुशल और प्रतिभाशाली पर अहम्मन्य पण्डित थे। वे अपने समक्ष र किसी दूसरे की विद्वत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उस समय यज्ञ क्रियाकर्म क लोकप्रिय था। मध्यमपावा में इन्द्रभूति अपने शिष्यों सहित आर्य सोमिल के ट यज्ञ का आयोजन करा रहे थे। भगवान महावीर भी जृम्भिकाराम से वहाँ और बाह्य उद्यान में ध्यानस्थ हो गए।

आश्चर्य की बात थी कि जन समुदाय याज्ञिक उत्सव की अपेक्षा महावीर न करने में अधिक उत्साह दिखा रहा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय याकाण्ड की जड़ें हिल चुकी थीं। समाज सही मार्गदर्शन पाने के लिए आतु

इन्द्रभूति के लिए भगवान महावीर की लोकप्रियता ईर्ष्या का कारण बन गई। परम्परा के अनुसार इतने में ही एक वृद्ध विद्वान् व्यक्ति उससे निम्नलिखित अर्थ पूछने आया—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य॥

इन्द्रभूति के लिए अस्तिकाय, छज्जीवणिकाय, महव्वय, अट्ठपवयणमादा आदि पारिभाषिक शब्द बिलकुल नए थे। इसलिए विवश होकर उन्हें उससे यह कहना पड़ा कि मैं इस गाथा का अर्थ तुम्हारे गुरु के समक्ष ही बताऊँगा।

यहाँ वृद्ध शिष्य षट्खण्डागम के अनुसार तो इन्द्र या पर अपने आपको तीर्थंकर या विद्वान मानने वालों की परीक्षा करने वाला कोई विशिष्ट व्यक्ति रहा होगा अथवा यह भी सम्भव है कि महावीर की देशना कहाँ तक तथ्य संगत है यह ज्ञात करने के लिए वह पण्डित-मान्य इन्द्रभूति के पास पहुँचा हो।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इन्द्रभूति आदि पावा में विशिष्ट यज्ञ के आयोजन में आये हुए थे। उन्होंने भगवान महावीर के विशिष्ट तेजस्वी व्यक्तित्व को देखकर उन्हें पराजित करना चाहा और वे क्रमशः भगवान महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचे।

महावीर के पास पहुँचते ही इन्द्रभूति गौतम स्वतः हतप्रभ से होने लगे। समवशरणवर्ती मानस्तम्भ अज्ञानान्धकार को विगलित करने वाला प्रकाशस्तम्भ बन गया। महावीर ने स्वयं उसके हृदयाश्रित प्रश्नों को उसके समक्ष रखा। इन्द्रभूति को आत्मा के अस्तित्व के सदर्भ में विशेष शंका थी। उसका पक्ष था कि आत्मा घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमानगम्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक होता है। आत्मा आगमगम्य भी नहीं है क्योंकि अनुमान के बिना आगम की सिद्धि नहीं होती। अदृष्टार्थ विषयक नरक, स्वर्ग आदि की सिद्धि का भी अनुमान ही मूल कारण है तथा तीर्थंकरों के सभी आगम परस्पर विरोधी हैं अतएव आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय ही उत्पन्न होता है।

भगवान महावीर ने गौतम इन्द्रभूति के उक्त संदेह को दूर करते हुए कहा कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि स्वसंवेदन-सिद्ध जो संशयादि विज्ञान तुम्हारे हृदय में प्रस्फुटित हो रहा है वह विज्ञान ही आत्मा है। और जो प्रत्यक्ष है वह प्रमाणान्तर द्वारा साध्य नहीं अथवा अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जैसे स्वशरीर में ही सुख-दुःखादि आत्मसंवेदन सिद्ध है तथा जानता हूँ, बोलता हूँ, करता हूँ, इत्यादि प्रकार से जो यह त्रैकालिक कार्य व्यपदेश है उसमें रहने वाले अहं प्रत्यय से भी आत्मसिद्धि होती है। जिसे आत्मनिश्चय का अभाव होगा, वह कर्मबन्ध मोक्षादिक के विषय में भी संशयालु रहेगा। स्मृति, जिज्ञासा, चिकीर्षा आदि गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से घट जैसे आत्मा गुणी भी प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। यदि गुणों से गुणी को अनर्थान्तरभूत माना जाय तो उनके ग्रहण होने पर आत्मा का ग्रहण हो ही जायगा। यदि

---

१ षट्खण्डागम, भाग १, पृ० १२६

८ अकम्पित

अकम्पित का मत था कि प्रत्यक्ष और अनुमान से उपलब्ध न होने के
नारकियों का अस्तित्व नहीं है। महावीर ने कहा—नारकियो का अस्तित्व है
उन्हे सर्वज्ञ ने देखा है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तो उपचारतः रहता है। इन्द्रियाँ
होने से उपलब्धि करने मे असमर्थ है, समर्थ तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। पाँच खिड़कियो
देखने वाले एक व्यक्ति के समान जीव इन्द्रियो से भिन्न है। इन्द्रिय-रूप आच्छाद
रहित जीव अधिक वस्तुओ को जानता है। अत. नरक सिद्धि मे प्रत्यक्ष और अनुमा
दोनो कारण सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृष्ट पुण्यभागी देव है तो प्रकृष्ट पाप भागी नारकी
भी हैं ही।[९]

९ अचलभ्राता

अचल भ्राता के मन मे पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे पाँच विकल्प थे—(i) केवल
पुण्य है, (ii) केवल पाप है, (iii) दोनो अपृथक् है, (iv) दोनो पृथक् है तथा (v)
स्वभाव ही सब कुछ है। महावीर ने उत्तर दिया कि पथ्याहारी के समान पुण्य की
उत्कर्षता और अपकर्षता देखी जाती है। इसी प्रकार अपथ्याहार से दुःख देखा जाता
है। अत पुण्य-पाप दोनो हैं और वे संयुक्त है। परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष मे उन्हे तदनु-
सार नाम दे देते हैं। दोनो पृथक् है और सुख, दुःख से उनका अस्तित्व माना जाता
है। स्वभाव ही सब कुछ नहीं है।[१०]

१० मेतार्य

मेतार्य को सन्देह था कि परलोक अथवा पुनर्जन्म है या नहीं। महावीर ने
इसका समाधान किया और कहा कि जातिस्मरण आदि के कारण यह सिद्ध है कि
भूतो के व्यतिरिक्त आत्मा है। वह अमर है और एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर
धारण करता है, यही पुनर्जन्म है।

११ प्रभास

प्रभास का मत था दीप के नाश की तरह जीव का निर्वाण जीव का नाश है।
अथवा अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता।
नारकादि पर्यायो के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश हो जाता है। फिर मोक्ष कहाँ?
हावीर ने इसका उत्तर दिया कि नारकादि पर्यायो के नष्ट हो जाने पर जीव का नाश
ही होता। जीवत्व कर्मकृत नहीं। कर्मनाश होने पर संसार का नाश अवश्य होता
स्वभाव से विकार धर्म वाला न होने से जीव विनाशी सिद्ध नहीं होता। मुक्त हो
पर जीव और कर्म का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। यहाँ भगवान महावीर

विशेषावश्यक भाष्य, १८८८-१८९०
ही, १९०८-१९४९

ने पदार्थ के स्वरूप का भी विश्लेषण किया कि वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। निश्चयनय ध्रौव्यात्मक तत्व का प्रतीक है और व्यवहारनय उत्पाद-व्यय तत्वों का।

इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम और उसके दसों प्रधान विद्वान साथी महावीर स्वामी की प्रकाण्ड विद्वत्ता और सर्वज्ञता के समक्ष सविनय नतमस्तक हुए और अपने चौदह हजार शिष्य परिवार सहित उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर लिया। महावीर स्वामी के ये ही ग्यारह प्रधान शिष्य हुए जिन्हें जैनशास्त्रों मे गणधर कहा गया है। इन ग्यारह गणधरो मे प्रधान गणधर थे—इन्द्रभूति गौतम।

दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओ मे गणधरों की सख्या मे तो कोई मतभेद नहीं पर उनके नामों मे मतभेद अवश्य है। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा, मौर्यपुत्र, अकम्पित और प्रभास तो दोनों परम्पराओं को मान्य हैं पर व्यक्त, मण्डित, अचलभ्राता और मेतार्य को दिगम्बर परम्परा स्वीकार नहीं करती। उनके *स्थान पर वह सौन्द्र्य, पुत्र, मैत्रेय और अन्धवेन का नाम प्रस्तावित करती है। यहाँ* यह भी दृष्टव्य है कि श्वेताम्बराम्नाय मौर्यपुत्र को एक ही गणधर मानती है पर दिगम्बराम्नाय उसे मौर्य और पुत्र नाम के पृथक्-पृथक् दो गणधर बताती है।[११]

चतुर्विध संघ की स्थापना

ग्यारह गणधरों के शिष्य बन जाने पर महावीर भगवान की लोकप्रियता और विश्रुति और भी अधिक बढ़ गई। साथ ही उनके अनुयायियों की सख्या में भी वृद्धि होना प्रारम्भ हो गया। यह देखकर भगवान ने नव गणों की स्थापना की और उनका उत्तरदायित्व पूर्वोक्त गणधरो को सौंप दिया।

इसके उपरान्त उन्होंने अपने अनुयायियो को भी चार श्रेणियों मे विभाजित कर दिया—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। आर्यिकाओं का नेतृत्व श्रमणी चन्दनबाला को सौंपा गया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन चतुर्विध सघ की स्थापना की। बौद्ध साहित्य में सघी, गणी, गणाचरिय, तित्थकर, सब्बञ्ञू आदि सम्माननीय शब्दों से उनका अनेक बार स्मरण किया गया है।

धर्मप्रचार और वर्षावास

चतुर्विध सघ की स्थापना के उपरान्त भगवान महावीर ने सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय धर्मप्रचार करना प्रारम्भ किया ताकि सासारिक प्राणी भौतिकता से दूर हटकर आत्म-कल्याण कर सकें। जनकल्याणकारिता के कारण ही उन्हें अर्हन्त जिन कहा गया है और पंच परमेष्ठियो मे प्रथम परमेष्ठी के अन्तर्गत उनका नाम रखा गया है।

---

११ उत्तरपुराण, ७४, ३७३-३७४

केवलज्ञान प्राप्ति के बाद की भी जीवन-घटनाओं का विवरण दिगम्बर साहित्य में समुचित और सुसम्बद्ध नहीं मिलता जबकि श्वेताम्बर साहित्य में उसे किसी सीमा तक क्रमबद्ध कर दिया गया है। दोनों परम्पराओं के आधार पर भगवान महावीर के धर्मप्रचार और वर्षावास के प्रमुख स्थल निम्न प्रकार से निश्चित किये जा सकते हैं—

१. मध्यमपावा, राजगृह (वर्षावास)।
२ ब्राह्मणकुण्ड, क्षत्रियकुण्ड, वैशाली (वर्षावास)।
३ कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।
४. राजगृह (वर्षावास)।
५ चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।
६ वाराणसी, आलभिया, राजगृह (वर्षावास)।
७ राजगृह (वर्षावास)।
८ कौशाम्बी, आलभिया, वैशाली (वर्षावास)।
९ मिथिला, काकन्दी, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)।
१०. राजगृह (वर्षावास)।
११. कयंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।
१२ ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास)।
१३. चम्पा (वर्षावास)।
१४. काकन्दी, मिथिला (वर्षावास)।
१५. श्रावस्ती, मिथिला (वर्षावास)।
१६ हस्तिनापुर, मोकानगरी, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।
१७ राजगृह (वर्षावास)।
१८. चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)।
१९ वाणिज्यपुर, वैशाली (वर्षावास)।
२० वैशाली (वर्षावास)।
२१ राजगृह, चम्पा, राजगृह (वर्षावास)।
२२. राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।
२३. वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)।
२४. साकेत, वैशाली (वर्षावास)।
२५. राजगृह (वर्षावास)।
२६. नालन्दा (वर्षावास)।
२७ मिथिला (वर्षावास)।
२८. मिथिला (वर्षावास)।
२९. राजगृह (वर्षावास)।
३० पावापुरी (वर्षावास)—परिनिर्वाण स्थल।

भगवान महावीर ने अपने तीस वर्षीय धर्मप्रचारकाल मे जैनधर्म को भारतवर्ष के कौने-कौने मे फैला दिया। उनका भ्रमण विशेषत: उत्तर, पूर्व, पश्चिम और मध्य-भारत में अधिक हुआ। बड़े-बड़े राजे-महाराजे भी उनके अनुयायी भक्त थे। श्रावस्ती का नरेश प्रसेनजित, मगध देश का नरेश श्रेणिक, चम्पा का नरेश दधिवाहन, कौशाम्बी का नरेश शतानीक, कलिंग का नरेश जितशत्रु आदि जैसे प्रतापी महाराजा भगवान के भक्त और उपासक थे।

दक्षिणापथ मे भी भगवान का विहार हुआ। उस समय यह भाग हेमागद के नाम से विश्रुत था। महाराजा सत्यन्धर के सुपुत्र जीवधर उस समय वहाँ के राजा थे। राजपुर उसकी राजधानी थी। जैनधर्म का प्रचार यद्यपि उस प्रदेश मे पहले-से ही था पर महावीर के भ्रमण से उसमें एक नया उत्साह और नयी प्रेरणा जागरित हुई। आज भी दक्षिण मे जैनधर्म, साहित्य और कला के प्रमाण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। श्रीलंका आदि दक्षिणवर्ती देशों मे उस समय जैनधर्म पहुँच गया था। पालि साहित्य, विशेषत महावंश इसका विश्वसनीय प्रमाण है।

संघ प्रमाण

भगवान तीर्थंकर महावीर का व्रती संघ[११] इस प्रकार था—

१. गणधर	११
२. गण	७ अथवा ६
३. केवली	७००
४. मन:पर्ययज्ञानी	५००
५. अवधिज्ञानी	१३००
६ चौदह पूर्वधारी	३००
७ वादी	४००
८ वैक्रियकलब्धिधारी	७००
६. अनुत्तरोपपातिकमुनि	८००
१०. साधु	१४०००
११. साध्वियां (आर्यिकायें)	३६०००
१२. श्रावक	१५६०००
१३. श्राविकायें	३१८०००
	५३१७१८

इसमे साधारण श्रावक-श्राविकाओ को गणना सम्मिलित नहीं है। मात्र व्रत-

---

११ कल्पसूत्र, १३३-१४४; उत्तर पुराण, ७४, ३७३-३७६, तिलोयपण्णत्ति ४. ११६६-११७६; हरिवंश-पुराण, ६०, ४३२-४४०, यहाँ कहीं-कहीं श्रावकों की संख्या एक लाख और श्राविकाओ की संख्या तीन लाख भी बतायी गई है।

पारियों की ही यहाँ गणना की गई है। सम्भव है यहाँ उसी संघ के अन्तर्गत उन्हीं
रखा गया हो, जो ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँच चुके हों। यदि ऐसा माना जाय तो यह
संख्या अनगार रूप मे प्रव्रजित साधुओं की ही होगी। उद्दिष्टत्यागी को भी श्रावक कहा
गया है। साधारण श्रावक-श्राविकाओं की गणना यहाँ नहीं होगी।

परिनिर्वाण

राजगृह मे उनतीसवाँ वर्षावास कर तीर्थंकर महावीर धर्म-प्रचार करते हुए
मल्लों की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) पहुँचे। वहाँ के राजा हस्तिपाल ने उनका
भावभीना स्वागत किया। धर्मोपदेश देते हुए अपापापुरी मे वर्षाकाल के तीन माह
व्यतीत हो चुके। चौथे माह की कार्तिक कृष्णा अमावस्या का प्रातःकाल भगवान
महावीर का अन्तिम समय था। वे अनवरत धर्मदेशना दे रहे थे। उनकी सभा में
काशी, कोशल के लिच्छवी, नौ मल्ल और अठारह गणराजा भी उपस्थित थे। अन्त में
उन्होंने अघातिया कर्मों का भी क्षय कर परम निर्वाण पद प्राप्त किया।[12] पालि
साहित्य मे भी इस घटना का वर्णन मिलता है।

भगवान महावीर ने तीस वर्ष की आयु मे महाभिनिष्क्रमण किया एवं छद्मस्थ
काल के बारह और केवलीचर्या के तीस, कुल बयालीस चातुर्मास किये। इस प्रकार
कुल मिलाकर महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की मानी गई है।

इस निर्वाण प्राप्ति के उपलक्ष्य मे लिच्छवि, मल्ल राजा महाराजाओं ने दीप
जलाकर निर्वाण महोत्सव मनाया। आज भी दीपावली के रूप मे उसे धूमधाम से
मनाया जाता है।

परिनिर्वाणकाल

महात्मा बुद्ध के समान भगवान महावीर का भी परिनिर्वाणकाल विवादग्रस्त
बना हुआ है। पालि साहित्य मे एतत्सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं—

१ अजातशत्रु ने तथागत बुद्ध से कहा कि वह पूर्ण काश्यप आदि तथाकथित
तीर्थंकरों से भेंट कर चुका है। निगण्ठनातपुत्त के भी दर्शन कर चुका है। वे सभी
चिरप्रव्रजित, अद्धगत और वयोनुपत्त (वयोवृद्ध) हैं।[13]

२ प्रसेनजित ने बुद्ध से कहा कि गौतम! दूसरे श्रमण-ब्राह्मण संघी, गणाचार्य,
तीर्थङ्कर निगण्ठनातपुत्त आदि से भी पूछे जाने पर उनसे उत्तर मिला कि वे अनुत्तर
सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकार पूर्वक कथन नहीं करते। आप तो अल्पवयस्क
और नव. प्रव्रजित हैं। फिर यह कैसे कह सकते हैं?[14]

१२ कल्पसूत्र, १२६; उत्तर पुराण।
१३ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, भाग १, पृ० ४७
१४ संयुत्तनिकाय, दहरसुत्त

३. जब बुद्ध सामगाम देश में भ्रमण कर रहे थे तब चुन्द ने आनन्द के पास पहुँच कर यह कहा कि भते ! निगण्ठनातपुत्त अभी-अभी पावा मे परिनिवृत्त हुए हैं। उनके परिनिवृत्त हो जाने पर निगठ (जैन साधु) दो भागो में विभक्त होकर कलह करते······मानो युद्ध हो रहा था।[१४]

४. बुद्ध जब राजगृह में थे, सभिय ने चिरप्रव्रजित निगण्ठनातपुत्त आदि से कुछ प्रश्न पूछे जिनका वे उत्तर नहीं दे सके। सभिय उन्हीं प्रश्नों को लेकर बुद्ध के पास जाना चाहता है। तब उसके मन मे यह प्रश्न-चिन्ह खड़ा होता है कि श्रमण गौतम तो आयु मे तरुण हैं और उन्होने अभी-अभी प्रव्रज्या ली है।[१५]

इन उद्धरणों से यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर महात्मा बुद्ध से आयु मे ज्येष्ठ थे और उनका परिनिर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ था।

महावीर का परिनिर्वाणकाल साधारणत विद्वानों ने ४६८ और ४८२ तथा ५२७ और ५४६ ई० पू० के बीच नियोजित किया है। सम्भवत. हरमन जेकोबी प्रथम विद्वान होंगे जिन्होंने महावीर की परिनिर्वाण तिथि निश्चित करने का उपक्रम किया। आचाराग सूत्र की भूमिका मे महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया कि बुद्ध के पूर्व ही महावीर परिनिर्वृत्त हो चुके थे।[१७] फलत. कल्पसूत्र की भूमिका मे उन्होंने महावीर का परिनिर्वाण काल ४६८-६७ ई. पू. स्वीकार किया। उनका यह कथन परिशिष्टपर्वन् पर आधारित है कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद हुआ।[१८] जेकोबी के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३१३ ई. पू. मे हुआ। अत. महावीर का परिनिर्वाण ४६८ ई. पू (३१३+१५५=४६८ ई पू) होना चाहिए। कार्पेन्टियर ने भी इसी सिद्धांत का समर्थन किया है।[१९] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जेकोबी और कार्पेन्टियर ने पालि साहित्य मे समागत महावीर के निर्वाण से सम्बद्ध उक्त उल्लेख भ्रान्तिपूर्ण माने हैं। पर यदि हम भी उन्हें भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं तो उक्त कथन का परीक्षण करना अनिवार्य हो जायगा।

महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई. पू. मे हुआ। अधिकाश विद्वान इस मत को स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में बुद्ध और महावीर के परिनिर्वाण के बीच लगभग

---

१४ मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त, ३,१,४; दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३, ६, सगीति परियायसुत्त, ३, १

१६ सुत्तनिपात, सभियसुत्त

१७ SBE Vol 22, Introduction, p 22. (1884).

१८ परिशिष्टपर्वन्, ८, ३३६

१९ इण्डियन एण्टिक्वेरी, १९१४, पृ० ११८, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० १३९-१४०

७५ वर्ष का व्यवधान रहा हो, यह तथ्यसगत नहीं लगता। वासम भी जेकोबी
मत का अनुसरण करते हुए दिखते हैं। उनका कथन है कि पालि साहित्य में गोशाल
की मृत्यु के स्थान पर महावीर की मृत्यु का उल्लेख भूल से हो गया होगा।[२०]

मजूमदार और रायचौधरी का मत है कि महावीर का परिनिर्वाण अजातशत्रु
के सिंहासनारोहण के लगभग आठ वर्ष बाद हुआ। इसका समर्थन परिशिष्टपर्व से
होता है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण महावीर निर्वाण के १५५ वर्ष
बाद हुआ (३२३+१५५=४७८ ई पू)।

हार्नले ने बुद्ध का निर्वाण काल ४८२ ई. मानते हुए भगवती सूत्र की
परम्परा[२१] को सही माना है कि महावीर और गोशालक की मृत्यु में सोलह वर्ष
अन्तर है। इसलिए उनका कहना है कि महावीर का निर्वाण ४८४ ई. पू. में
गोशाल का निर्वाण ५०० ई. पू. में हुआ।

परम्परानुसार महावीर का परिनिर्वाण ५२७ ई. पू. में हुआ। अधिकां
विद्वान इस मत को स्वीकारने लगे हैं। यह परम्परा विक्रम संवत् के प्रवर्तन की
मान्यता पर आधारित है। कुछ विद्वान मानते हैं कि विक्रम का जन्म महावीर के
४७० वर्ष बाद और सिंहासनारोहण तथा मृत्यु क्रमश ४८८ एव ५६८ वर्ष बाद हुई।
इसी प्रकार कोई कहता है कि विक्रम संवत् महावीर की मृत्यु के ४१० वर्ष बाद प्रारम्भ
हुआ। अर्थात् महावीर का निर्वाण काल वि स के प्रचलन की मान्यता पर टिका
हुआ है। यदि वि स का प्रारम्भ उसके जन्मकाल से लिया जाय तो महावीर का
निर्वाणकाल ५२७ ई पू (५७+४७०=५२७ ई. पू) माना जायगा। यदि उसे
उसके सिंहासनारोहण से माना जाय तो यह काल ५४५ ई. पू. (५७+४८८=५४५
ई पू) सिद्ध होगा और यदि उसे उसकी मृत्यु से प्रारम्भ हुआ कहा जाय तो
महावीर का निर्वाण काल ६२२ ई पू (४७०+८०+७२=६२२ ई पू)। यदि
हम पालक राजा के ६० वर्ष का व्यवधान मानें तो महावीर का निर्वाण काल ४६७
ई पू (५२७-६०=४६७ ई पू) मानना पड़ेगा। इस प्रकार यह समस्या और
भी विचारणीय बन जाती है।

जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के परिनिर्वाण
... २१५ वर्ष बाद हुआ। हेमचन्द्र के अनुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण
... १५५ वर्ष बाद हुआ।[२२] लगता है, हेमचन्द्र ने यहाँ भूल कर दी। महावीर निर्वाण
... के दिन ही पालक ने उज्जयिनी में राज्य सम्हाला था। उसका यह राज्य ६०

History and Doctrines of the Ajivikas, p 74.
भगवतीसूत्र, शतक १५
परिशिष्ट पर्व ८,३३९

वर्ष तक रहा। उसके बाद १५५ वर्ष तक नन्द-राज्य रहा। हेमचन्द्र इन ६० वर्षों को जोड़ना भूल गये परिशिष्ट पर्वन् में। यह अधिक सम्भव है।

चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण निर्विवाद रूप से ई० पू० ३२२ माना गया है। तित्थोगालीपयइन्ना आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार यह घटना महावीर निर्वाण के २१५ वर्ष बाद घटी। यह राज्यारोहण अवन्ति का होना चाहिए जो पाटलिपुत्र राज्यारोहण से दस वर्ष पूर्व हुआ। इस प्रकार महावीर का निर्वाणकाल ३२२ — १० + २१५ = ई० पू० ५२७ सिद्ध होता है।

वि० सं० का प्रारम्भ महावीर के निर्वाणकाल से ४७० वर्ष बाद हुआ। यह परम्परा अधिक ऐतिहासिक मानी जाती है। यह स्पष्ट है ही कि ५७ ई० पू० में वि० स० प्रारम्भ हुआ है। अतः महावीर का निर्वाण ५२७ (४७० + ५७) ई० पू० माना जाना चाहिए। इसी प्रकार शक सवत् का प्रारम्भ महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष व पाँच माह बाद माना जाता है। शक सं० का प्रारम्भ ई० पू० ७८ में हुआ है। अत. ६०५ = ७८ — ५२७ ई० पू० में महावीर का निर्वाणकाल नि सदिग्ध है।

हेमचन्द्र की मूल त्रिषष्टिशलाका में भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है कि चालुक्य कुमारपाल का जन्म महावीर निर्वाण से १६६९ वर्ष बाद होगा। यह निर्विवाद मान्य है कि कुमारपाल राजा का जन्म ई० ११४२ में हुआ। अत महावीर का निर्वाणकाल १६६९ — ११४२ ई० = ५२७ ई० पू० है।

मुनि कल्याणविजय जी, कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, शान्तिलाल जी शाह आदि विद्वान इस तिथि को स्वीकार करते हैं पर वे पालि के सम्बद्ध उद्धरणों को अप्रामाणिक मानते हैं। विजयेन्द्र सूरि उन्हें प्रामाणिक मानते हैं पर आगम का अनुकरण करते हुए कहते हैं कि वहाँ महावीर का नहीं, गोशालक की मृत्यु का उल्लेख होना चाहिए।

दूसरी ओर के० पी० जायसवाल, राधाकुमुद मुकर्जी और कामताप्रसाद आदि विद्वान महावीर का निर्वाण ५४५ ई० पू० मानते हैं। उनका मुख्य तर्क यह है कि वि० स० का प्रारम्भ विक्रम के राज्यारोहण से होना चाहिए। यदि इसे हम स्वीकार करते हैं तो महावीर का परिनिर्वाण ५७ + १८ + ४७० = ५४६-५४५ ई० पू० ठहरता है और बुद्ध का परिनिर्वाण सिंहल परम्परा द्वारा मान्य ५४४-५४३ ई० पू० निश्चित होता है। इस प्रकार दोनों महापुरुषों के परिनिर्वाण में एक वर्ष का अन्तर रह जाता है। यह तथ्य भी विचारणीय है। जैन-बौद्धागमों के आधार पर महावीर और बुद्ध की जीवन-घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है। इसे हम आगे स्वतन्त्र रूप से लिख रहे हैं।

निर्वाण-स्थल

भगवान महावीर का निर्वाण-स्थल भी एक विवाद का विषय बना हुआ है।

यह गंगा के दक्षिणवर्ती प्रदेश में स्थित पावा है अथवा उत्तरवर्ती प्रदेश में स्थित पावा है ? गंगा का उत्तरवर्ती पावा प्राचीनकाल में पडरौना और अपापापुरी के नाम से प्रचलित था। वहाँ राजा हस्तिपाल की राजधानी भी थी। वर्तमान में वह गोरखपुर जिले के अन्तर्गत आता है। गंगा का दक्षिणवर्ती पावा राजगृह के समीप स्थित है जिसे परम्परा से भगवान महावीर का निर्वाण-स्थल स्वीकारा गया है।

प्रश्न यह है कि वह कौन-सा पावा है जिसे महावीर के निर्वाण-स्थल बनने का सौभाग्य मिला है। निर्वाण के प्रसंग में हम पालि साहित्य में प्राप्त उद्धरणों का उल्लेख कर आये हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि महावीर का निर्वाण मल्लों की राजधानी नगरी पावा में हुआ।[२३]

इतिहास में मल्ल राजा दो भागों में विभाजित थे। एक पावा के मल्ल और दूसरे कुसीनारा के मल्ल। पावा के मल्लों की राजधानी में ही महावीर का निर्वाण हुआ। उत्तर में वज्जियों और मल्लों का राज्य था तथा दक्षिण में मगध में लिच्छवियों और ज्ञातृकुलों का राज्य था। उत्तर में बुद्ध का प्रभाव अधिक था और दक्षिण में महावीर का। परन्तु दोनों प्रदेशों में बुद्ध और महावीर समान रूप से विहार करते रहे और धर्मदेशना देते रहे। मल्लों और लिच्छवियों के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं थे फिर भी वे इन दोनों के भक्त थे।

भगवान महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्ल की, नौ लिच्छवी तथा अठारह गणराजा उपस्थित थे।[२४] महावीर का जिस समय पावा में निर्वाण हुआ, उस समय बुद्ध कुसीनारा में थे और उनका परम शिष्य चुन्द पावा में ही वर्षावास कर रहा था। महावीर का परिनिर्वाण होते ही वह बुद्ध के पास सूचना देने स्वयं पहुँच गया। यह सम्भव तभी हो सकता है जब पावा और कुसीनारा समीप हों। दीघनिकाय अट्ठकथा में कहा है कि पावा से कुसीनारा की दूरी तीन गव्यूति (कोस) है—'पावा नगरतो तीणि गावुतानि कुसीनारा नगरं'। महावीर यहीं अन्तिम वर्षावास करने राजगृह से आये थे। सम्भव है, उनका यह कार्य मल्लों और लिच्छवियों के बीच एकता स्थापित करने के लिए रहा हो।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत दक्षिण पावा को महावीर भगवान का निर्वाण स्थल नहीं कहा जा सकता। यह पुनीत स्थल गंगा के उत्तरवर्ती प्रदेश में स्थित पावा ही होना चाहिए। यहीं उनका अन्तिम वर्षावास हुआ होगा।

---

२३ पावा नाम मल्लानं नगरं तदवसरि······। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुना कालङ्कतो होति। दीघनिकाय, पथिकवग्ग, संगीतिसुत्त।

२४ कल्पसूत्र, १२८

कन्हैयालाल सरावगी ने कुशीनगर के समीपवर्ती सठियांव नामक ग्राम को महावीर का निर्वाण-स्थल माना है। उनका कहना है कि पीवावा का ही अपभ्रष्ट रूप सठियावा बन गया।[२५] परन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह सही नहीं उतरता। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने उपलब्ध प्रमाणों की मीमांसा करते हुए मगध के अन्तर्गत वर्तमान पावा को ही मध्यम पावा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[२६] देवेन्द्रमुनि जी ने भी इसी पावा को महावीर की निर्वाण-स्थली स्वीकार किया है। उनके इस सम्बन्ध में तीन प्रमुख तर्क हैं—*(i) मगध सम्राट शत्रु प्रदेश में नहीं पहुँच सकता (ii) मगध* सम्राट महावीर के निर्वाणकाल में वहाँ उपस्थित क्यों नहीं हुआ, (iii) मगध में हस्तिपाल राजा के होने की संभावना ही नहीं।[२७] अत मगधवर्ती पावा महावीर की निर्वाण भूमि नहीं मानी जा सकती।

पार्श्वनाथ और महावीर का शासन भेद

पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में किञ्चित् भेद था। यह तथ्य उत्तराध्ययन में उल्लिखित केशी-गौतम संवाद से भी प्रगट होता है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी श्रमण थे और गौतम महावीर के पट्टशिष्य थे। दोनों के संवाद तथा अन्य साहित्यिक उल्लेखों से पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद निम्न प्रकार से स्पष्ट हो जाता है—

(१) प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों (याम) का निर्धारण किया था जबकि अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के तीर्थंकरों ने चातुर्याम का ही उपदेश दिया था। उनके अपरिग्रहव्रत में ब्रह्मचर्यव्रत गर्भित रहता था।[२८] इसका मूल कारण यह है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं जड तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इसलिए प्रथम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिए मुनिधर्म का यथावत् ज्ञान दुर्लभ होता है और चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिए उसका आचरण कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के अनुयायी साधुओं के लिए उसका ज्ञान और आचरण दोनों सहज होते हैं।

(२) अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के तीर्थंकरों ने सामायिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात रूप चार चारित्रों का ही विधान किया था

---

२५ पावा समीक्षा, पृ० ४२

२६ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ० २६५-३१०

२७ भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ० ६२

२८ ठाणांगसूत्र, ४, २६६; उत्तराध्ययन, २१, १२; दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

जबकि ऋषभदेव और महावीर ने छेदोपस्थापना का विधान करके चारित्र-संख्या पाँच कर दी थी। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसलिए प्रव्रज्यादायक के साथ-साथ छेदोपस्थापक आचार्य का भी उल्लेख किया है। छेद का तात्पर्य है प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति।[२९]

(३) प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेल होता है और शेष तीर्थंकरों का धर्म सचेल होता है।

(४) ऋषभदेव और महावीर ने रात्रि भोजन त्याग को व्रतों में सम्मिलित किया जबकि शेष तीर्थंकरों ने उसे व्रतों में न रखकर अहिंसा में गर्भित किया।[३०] प्रथम परम्परा उसे मूलगुण मानती है जबकि द्वितीय परम्परा उत्तरगुण। उत्तरकालीन आचार्यों में भी रात्रि भोजन त्याग के विषय में मतभेद रहा है।

(५) पार्श्व परम्परा के अनुसार भिक्षु के लिए दोषों के होने पर ही प्रतिक्रमण करना पड़ता था पर महावीर ने उसे चारित्र का एक अनिवार्य तत्त्व बना दिया। दोष हो या नहीं, प्रतिक्रमण करना आवश्यक हो गया।[३१]

☆

---

२९ प्रवचनसार, ३, १०-१७
३० दशवैकालिक, हरिभद्रवृत्ति, पत्र १५०
३१ मूलाचार, ७, १२५-१२६; विशेषावश्यक भाष्य, १२६७

अध्याय ६

भगवान महावीरकालीन साहित्य और कला

१ आयारांग (आचारांग)
२ सूयगडांग (सूत्रकृतांग)
३ ठाणांग (स्थानांग)
४ समवायांग
५ विवाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)
६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथांग)
७ उवासगदसा (उपासकदशांग)
८ अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशांग)
९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपा-
तिक दशांग)
१०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणांग)
११. विवागसुय (विपाकसूत्र)
१२. दिट्ठिवाए (दृष्टिवाद)

भगवान महावीरकालीन साहित्य और कला

भगवान महावीर छठी शताब्दी ईसा पूर्व का एक ऐसा क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व था जिसने प्राचीन परम्परा में पली-पुसी समाज की हर समस्या को समीप से देखा था और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को समझा था। दकियानूसी विचारों से त्रस्त, ऊँच-नीच की भावनाओं से ग्रस्त और आर्थिक-सामाजिक तथा राजनीतिक आचार संहिताओं से भ्रष्ट वातावरण के दूषित कल्पना-जाल को उसने अपनी सूक्ष्मदृष्टि और गहन अनुभूति के माध्यम से निर्मूल करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, ईरान का जरथुस्त्र, फिलिस्तीन के जिरेमिया और ईजाक्हेल, चीन के कन्फ्यूशियस और लाओत्से, यूनान के पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात प्रभृति दार्शनिक इसी युग के सचेता थे। हमारी भारत वसुन्धरा भी महात्मा बुद्ध, मक्खलि गोसाल, सजय वेलट्ठिपुत्त आदि श्रमण दार्शनिकों[1] तथा अजित देवल, द्वैपायन, पाराशर, नमि, विदेही रामगुप्त, बाहुक, नारायण आदि वैदिक दार्शनिकों[2] को अपनी सुखद अंक में सजोये हुई थी। महावीर ने इन सभी चिन्तकों की भूमिका पर खड़े होकर समाज और धर्म की जर्जरित रुग्ण नाड़ी की हलन-चलन का लेखा-जोखा किया और भिषगाचार्य के सार्थक सयोजन ने उन्हे युगचेता महावीर बना दिया।

संस्कृति की आत्मा साहित्य की रमणीय प्रकृति मे झाँकती रहती है। उसके हर स्पन्दन में साहित्य का नया स्वर झकृत होता रहता है। महावीरकालीन साहित्य मे ऐसे अगणित स्वर सुनाई पडते है जिनमे कही अध्यात्मरसपान की पिपासा है तो कहीं सासारिक विषय-वासनाओ के उपभोग की मृगतृष्णा, कहीं रागद्वेषादिक विकारों की भयकर ज्वालायें है तो उन्हें प्रशान्त करने के लिए रससिक्त शीतल समीर का आन्दोलन, कहीं मानसिक अन्तर्द्वन्दो मे घूमता-फिरता प्राणी दिखाई देता है तो कहीं कलाओं की सर्जना मे मस्त रहने वाला सतत अभ्यासी। ये सारे दृश्य तत्कालीन मानस से फूटने वाले प्रतिवेदन हैं जिन्हे हम भगवान महावीर के चिन्तन की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित कर सकते हैं। ये प्रतिवेदन कालखण्ड की सीमा को उल्लंघित करते हुए दिखाई देते हैं। इस सदर्भ मे महावीर का सार्वदेशिक और सार्वभौमिक अभिवाचन

---

१ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त

२ सूयगडग ३, ४, १-४

आज भी उतना ही सत्य है जितना २५०० वर्ष पहले था। अतः आधुनिक मानव के लिए भी वह आधुनिकतम बनकर हमारे समक्ष हीनाधिक रूप मे विद्यमान है।

जनभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने वालो मे महावीर का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। उस समय समूचे महाराष्ट्र तक की सीमा वाले सारे भारतवर्ष मे प्राकृत और उसकी अन्य प्रादेशिक बोलियाँ जन बोलियों का रूप लिए हुए थी। जन-जीवन का सचरण उन्हीं बोलियो के माध्यम से होता था। महावीर ने मानसिक दासता से मुक्त करने का यह अभूतपूर्व उपक्रम सोचा और उन्होंने अपना उपदेश एक वर्ग विशेष की बोली सस्कृत मे न देकर जन बोली मे देना प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी सामाजिक और आर्थिक क्रान्तिनिष्ठ विचारधारा ने जन-आन्दोलन का रूप ले लिया। कालान्तर मे इन्हीं बोलियो ने भाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया। विकास के अनेक चरणो को पार करता हुआ उनका रूप आधुनिक आर्य-भाषा के रूप मे प्राप्त होता है।

भगवान महावीर के उपदेश एक लम्बे समय तक श्रुति परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रखे गये। लिपिबद्ध होने के समय तक भाषाओं और विचारधाराओं के विकास-चरण काफी आगे बढ़ चुके थे। अनेक सघ और सम्प्रदाय खडे हो चुके थे। साहित्य भी उनसे प्रभावित हुआ। अनेक वाचनाओ के माध्यम से यद्यपि उसे यथावत् बनाये रखने का प्रयास अवश्य हुआ, पर कालचक्र के बीच घटित घटनाओं को अकित किये बिना वह नही रह सका। साहित्य को प्रभावित हुआ देखकर एक वर्ग ने उसे किसी एक सीमा तक स्वीकार किया तो दूसरे ने किसी दूसरी सीमा तक; इतना ही नहीं, एक अन्य वर्ग ने तो उसे लुप्त ही मान लिया। मतमतान्तरो का यह जन्म साहित्य और दर्शन के विकास की अमिट कहानी अवश्य है पर उससे उसका मूल रूप अदृश्य-सा हो जाता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि महावीरकालीन साहित्य का मूल रूप पाना आज सरल नही। विवाद के गम्भीर गह्वरो से ऊपर उठकर निर्विवाद साहित्य का सकलन आज की जाज्वल्यमान आवश्यकता है।

महावीर के पूर्व का जैन साहित्य यद्यपि उपलब्ध नहीं होता पर उसे 'पूर्व' सज्ञा से अभिहित किया गया है। इन पूर्वों की सख्या चौदह बतायी गई है—उत्पाद-पूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। महावीर ने श्रुति-परम्परा से सभवत इन पूर्व ग्रन्थो का अध्ययन किया होगा और उन्ही के आधार पर उनकी साधना और ज्ञानार्जना रही होगी। जैन-परम्परा की दृष्टि से यह पूर्व-परम्परा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से प्रारम्भ हुई और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर तक वह अविच्छिन्न रूप से चलती रही। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली वाग्गगा है जिसमें अवगाहन कर गणधरो और आचार्यों ने विविध प्रकार के साहित्य की सर्जना की अर्थात्

महावीर ने जो उपदेश दिया उसे उनके गणधरों ने सूत्रबद्ध किया। इसलिए अर्थात्मक शास्त्र के कर्ता भगवान महावीर हैं तथा शब्दात्मक शास्त्र के कर्ता गणधर माने जाते हैं। उन्हीं शास्त्रों को श्रुत कहा जाता है।[3] उमास्वाति ने इसी श्रुत संज्ञा को आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन के रूप में पर्यायिक शब्द दिये हैं।[4] उत्तरकाल में प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आचार्यों के ग्रन्थ भी इसी शृंखला से सम्बद्ध होते गये और उन सभी को श्रुत अथवा आगम कहा जाने लगा। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[5] आगमों की सीमा में ऐसे श्रुत अथवा आगमों का सम्मिलित होते रहना एक विशेष कारण कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में श्रुति-परम्परा ही एक ऐसा माध्यम था जिससे हर सम्प्रदाय अपना आगम किसी सीमा तक सुरक्षित रख पाते थे। समय की मांग के अनुसार चिन्तन की विभिन्न धारायें भी उसमें जुड़ती चली जाती थीं। संगीति अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इन आगमों का परीक्षण कर लिया जाता था फिर भी चिन्तन के प्रवाह को रोकना सरल नहीं होता था।

भगवान महावीर के श्रुत-उपदेश को भी इसी प्रकार की श्रुति परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया। संपूर्ण श्रुत के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें श्रुत केवली कहा गया है। उनके जीवन काल (महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद) में उत्तर भारत में द्वादशवर्षीय एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिससे संघभेद का सूत्रपात हुआ। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्न थे। दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन तीन छेद सूत्रों को श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियों के रूप में प्रतिष्ठा है। यद्यपि इन ग्रन्थों में इस संदर्भ में कुछ भी उल्लेख नहीं परन्तु उत्तरकालीन आचार्यों की इस प्रकार मान्यता है।

तित्थोगालीयपइन्ना के अनुसार दुर्भिक्षकाल में अस्तव्यस्त हुए श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए भगवान महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ एक वाचना हुई। जिसमें श्रमण भिक्षुओं ने ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया। बारहवें अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता भद्रबाहु थे, जो

---

३ अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥
—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १९२; धवला, भाग १, पृ० ६४ तथा ७२

४ तत्त्वार्थ भाष्य १, २०

५ सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्व कथिदं च॥ —मूलाचार ५९०

बारह वर्ष की महाप्राण नामक योग साधना के लिए नेपाल चले गये थे। संघ की ओर से उनके पास दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए कुछ साधुओं को भेजा गया पर उनमें स्थूलभद्र ही सक्षम हो सके। भद्रबाहु से स्थूलभद्र ने दश पूर्वों का अध्ययन किया। इसी बीच स्थूलभद्र की दो साध्वी बहनें उनके दर्शनार्थ पहुँची। अपनी ज्ञान साधना का चमत्कार दिखाने के लिए स्थूलभद्र ने सिंह का रूप धारण कर लिया। इस घटना की जानकारी होने पर भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अपात्र घोषित कर दिया। अधिक अनुनय-विनय करने पर उन्होने शेष चार पूर्वों का अध्ययन वाचना मात्र से कराया, अर्थ नहीं। फलत. उनका ज्ञान उन्हें नहीं हो सका। श्वेताम्बर परम्परा यह श्रुतविच्छेद महावीर के निर्वाण के १६२ वर्ष बाद घटित हुआ मानती है।[१]

धीरे-धीरे दश पूर्वों का भी लोप होता गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण के ३४५ वर्ष बाद दशपूर्वों का विच्छेद हुआ। इस परम्परा में अन्तिम दश पूर्व ज्ञानधारी आचार्य धर्मसेन थे। श्वेताम्बर परम्परा भी दशपूर्व ज्ञान के लोप को स्वीकार करती है, पर महावीर के निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद। उसके अनुसार दशपूर्व ज्ञानधारी अन्तिम आचार्य वज्र थे।

श्रुतिलोप का क्रम बढ़ता ही गया। दश पूर्वों के विच्छेद हो जाने के बाद विशेष पाठियों का भी विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के ६८३ वर्षों के बाद हुआ मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आर्य वज्र के बाद २३ वर्ष तक आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य रहे। वे साढ़े नौ पूर्वों के ज्ञाता थे। उन्होंने विशेष पाठियों का क्रमशः ह्रास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। फिर भी पूर्वों के लोप को नहीं बचाया जा सका। यह स्थिति महावीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई। यहाँ यह स्पष्ट है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पाटलिपुत्र वाचना में उपस्थित नहीं हो सके थे फिर भी अन्य साधुओं के माध्यम से ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वे अंग आज भी प्रचलित हैं।

इस प्रकार दिगम्बर श्वेताम्बर परम्पराओं के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त श्रुत-विच्छेद इस प्रकार हुआ—

दिगम्बर परम्परा		श्वेताम्बर परम्परा	
३ केवली	६२ वर्ष	३ केवली	६४ वर्ष
गौतम	१२ वर्ष	गौतम	
सुधर्मा	१२ वर्ष	सुधर्मा	१२+८=२० वर्ष
जम्बू	३८ वर्ष	जम्बू	४४ वर्ष

१ आवश्यक चूर्णि २, पृ० १८७

५ श्रुत केवली	१०० वर्ष
विष्णु	१४ वर्ष
नन्दिमित्र	१६ वर्ष
अपराजित	२२ वर्ष
गोवर्धन	१९ वर्ष
भद्रबाहु	२९ वर्ष
११ दशपूर्वधर	**१८३ वर्ष**
विशाखाचार्य	१० वर्ष
प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
क्षत्रिय	१७ वर्ष
जयसेन	२१ वर्ष
नागसेन	१८ वर्ष
सिद्धार्थ	१७ वर्ष
धृतिसेन	१८ वर्ष
विजय	१३ वर्ष
बुद्धिल	२० वर्ष
गंगदेव	१५ वर्ष
धर्मसेन	१६ वर्ष
५ एकादशांगधारी	**२२० वर्ष**
नक्षत्र	
जयपाल	
पाण्डु	
ध्रुवसेन	
कंसाचार्य	
४ आचारांगधारी	**११८ वर्ष**
सुभद्र	
यशोभद्र	
यशोबाहु	
लोहाचार्य	
कुल ६८३ वर्ष	

५ श्रुत केवली	१०६ वर्ष
प्रभव	११ वर्ष
शय्यभव	२३ वर्ष
यशोभद्र	५० वर्ष
सभूतिविजय	८ वर्ष
भद्रबाहु	१४ वर्ष
१२ दशपूर्वधर	**४१४ वर्ष**
स्थूलभद्र	४५ वर्ष
महागिरि	३० वर्ष
सुहस्तिन	४६ वर्ष
बलिस्सह	
गुणसुन्दर	४४ वर्ष
हालदाचार्य (श्यामाचार्य)	४१ वर्ष
शाण्डिल्य	३८ वर्ष
रेवतीमित्र	३६ वर्ष
आर्य मंगू	२२ वर्ष
आर्य धर्म	२४ वर्ष
भद्रगुप्त	३९ वर्ष
श्रीगुप्त	१५ वर्ष
वज्र	३६ वर्ष
कुल ५८४ वर्ष	

वर्तमान में उपलब्ध आगमों में अनेकता को स्थान-स्थान पर उपादेय और श्रद्धास्पद माना गया है तथा गणेकता को मात्र की प्रधानता का तर्क देकर स्वीकार किया गया है। इस संदर्भ में डॉ० वेबर ने कहा यह असंभव नहीं कि अनेक प्राचीन परम्पराओं को आगमों से अलग कर दिया गया है और यह देखकर दिगम्बर परम्परा ने उसे मानने से सर्वथा अस्वीकार कर दिया हो। भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में कुछ उदाहरण आगमों से दिये गये हैं पर वे वर्तमान में उपलब्ध आगमों में नहीं मिलते। अतः यह कहा जा सकता है कि आगमों के रूप में परिवर्तन-परिवर्धन एक लम्बे काल तक होता रहा है।

अतएव आगम परम्परा में उपलब्ध साहित्य में से महावीरकालीन साहित्य किसे कहा जाय यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस संदर्भ में समवायांग का प्रारंभिक भाग उल्लेख्य है जहाँ आगमों का परिचय देते हुए कहा गया है—"इह खलु, समणेण भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थयरेणं—इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तजहा आयारे, सूयगडेटाणे, समवाए, विवाहपन्नत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसुए, दिट्ठिवाए। तत्थ ण जे से चउत्थे अंगे समवाएत्ति आहिए तस्स ण अयमट्ठे, पण्णत्ते।

यहाँ "अट्ठे पण्णत्ते" पर यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमों की संरचना भगवान महावीर की नहीं बल्कि उनके उपदेशों के आधार पर अथवा उपदिष्ट प्रवचनों के अर्थ के आधार पर रचित उनके साक्षात् शिष्यों अर्थात् गणधरों की यह अर्थ रचना है। 'सुयमे आउसं तेण भगवया एवमक्खं' जैसे शब्द भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। यहाँ 'गणहर' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी गणधर मिलकर अर्थ रचना करते हो। पर दिगम्बर परम्परा ने गणधरों में भी गौतम गणधर को ही आगमों का अर्थकर्ता माना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा गौतम गणधर का नामोल्लेख भगवती सूत्र आदि में करते हुए भी आगमों का विशेष सम्बन्ध सुधर्मा गणधर से स्थापित करती है। उत्तरकाल में प्रत्येक बुद्धों, श्रुतकेवलियों, पूर्वज्ञों, आचार्यों आदि के द्वारा रचित ग्रन्थ भी प्रमाण रूप में स्वीकार किये गये।

ऐसा लगता है मूलागम जिनमें महावीर की मूल वाणी को गूंथने का प्रयास किया गया है, कुल मिलाकर बारह थे। इन्हीं अंग ग्रन्थों को द्वादशांग कहा गया है। गणिपिटकअंग, अंगप्रविष्ट जैसी संज्ञायें भी इसी के लिए प्रयुक्त हुई हैं। महावीर से पूर्व की आगम परम्परा जो श्रुति परम्परा से महावीर को मिली होगी, का भी समावेश इसी द्वादशांग में हो गया। इस द्वादशांग के आधार पर उत्तरकाल में रचित समस्त आगम अंगबाह्य कहे जाते हैं। समवायांग, अनुयोग, नन्दी, धवला आदि ग्रन्थों में भी यही विभाग स्वीकार किया गया है। उपांग, छेद, चूलिका, मूल आदि सूत्र ग्रन्थ उत्तरकालीन हैं। स्थानांग सूत्र में श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

अगबाह्य व्यतिरिक्त के पुन: दो भेद किये गये—कालिक और उत्कालिक। वहाँ उपाग जैसा कोई उल्लेख नही। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपागों के रूप मे आगम का विभाजन बहुत प्राचीन नहीं। अगो के साथ उपागो का कोई मेल भी नही दिखता।

अग और अगबाह्य ग्रन्थो मे प्रक्षेपाश भी मिलते हैं। उन्हे अलग करने के बाद ही ग्रन्थो का समय निश्चित किया जा सकता है। महावीर की मूल वाणी का सकलन भी तभी हो सकता है जब हम प्रक्षेपाशो को अग ग्रन्थो से निकाल देने के लिए तैयार हो जायें। अगबाह्य ग्रन्थ आचार्यों के द्वारा लिखे गये हैं। वाचनाओ अथवा सकलनाओ से उनका कोई सम्बन्ध नही। पञ्जवणा (प्रज्ञापना) के कर्त्ता आर्य श्याम, दशाश्रुत, वृहत्कल्प, पिण्डनिर्युक्ति और व्यवहार सूत्रो के कर्त्ता भद्रबाहु द्वितीय (ईसा की पाँचवी शती), दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यभव, नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक (५-६वीं शती), चाउस्सरण, आउरपच्चक्खाण और भत्तपरिन्ना प्रकीर्णको के कर्त्ता वीरभद्र (ई० ६५१) पाये जाते हैं। उत्तराध्ययन एक सकलनात्मक ग्रन्थ है। शेष अगबाह्य ग्रन्थो के लेखको की अभी अवधारणा नहीं हो सकी। पर यह निश्चित है कि वे उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा निर्मित हुए हैं। इतना ही नहीं, लिपिबद्ध होने के पूर्व लिखे गये ग्रन्थो मे भी प्रक्षेपाश सम्मिलित हो गये। अग ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं। अतएव प्रत्येक ग्रन्थ का सूक्ष्म परीक्षण कर उनके मूल रूप को निश्चित करना तथा उनका समय निर्धारित करना एक बडा श्रमसाध्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य शेष है।

यहाँ हम अग ग्रन्थों को ही महावीर की मूलवाणी मानकर उसे महावीर-कालीन साहित्य के रूप मे प्रस्तुत कर रहे हैं। इन्हें श्रुति-परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया एव 'मे सुय' जैसे वाक्य वक्ता और श्रोता के बीच एक तीसरे वक्ता की बात करते है जो सम्भवत: महावीर रहे होंगे। उत्तरकाल मे आचार शैथिल्य, अवधारणा-शक्ति शैथिल्य और श्रुति परम्परा के लोप को देखकर महावीर के उपदेशो को पुस्तकारूढ करने का प्रयत्न हुआ, फिर भी अगो का आकार-प्रकार घटता-बढता ही रहा। इसे हम आगे के पृष्ठो मे स्पष्ट करेंगे।

द्वादशागों की सरचना पूर्व-ग्रन्थ-परम्परा पर आधारित रही है। उसके क्रम और विषय मे साधारणत: दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं मे कोई विशेष मतभेद नहीं। परिमाण और स्वरूप मे किंचित् भेद अवश्य दिखाई देता है। सभव है यह अन्तर प्रक्षिप्ताशों के सन्दर्भ मे रहा होगा।

द्वादशागो के नाम इस प्रकार हैं—आयाराग, सूयगडग, ठाणाग, समवायाग, वियाहपण्णत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अनगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हवागरणाइं, विवागसुयं एव दिट्ठिवाय। इनका सक्षिप्त आलोचनात्मक विवरण देखने पर महावीर काल के साहित्य की रूपरेखा सामने आ जाती है।

१. आयारांग (आचारांग)

द्वादशांगों में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। सभवत: इसीलिए

इसे अंगो का सार कहा गया है—अंगाणं किं सारो आयारो।[१६] इससे आचार की महत्ता प्रगट होती है। इसकी रचना पूर्व-ग्रन्थो से पूर्व हुई या बाद में, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। अधिक युक्तिसंगत यह प्रतीत होता है कि पूर्वों की रचना पहले हुई होगी और उन्हीं के आधार पर आचारांग रचा गया होगा।

नन्दीसूत्र के अनुसार उसमें श्रमण निर्ग्रन्थो का आचार, गोचर ग्रहण करने की विधि, विनय, विनयफल (कर्मक्षय), शिक्षा, भाषा, अभाषा, महाव्रत, पिण्ड, विशुद्धि, यात्रा आदि का वर्णन है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं, ८५ समुद्देशन-काल हैं, दो चूलिकायें है, और १८००० पद हैं। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार इसमें चर्या का विधान, आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति, आदि वर्णित हैं। षट्खण्डागम के अनुसार इसमें यह बताया है कि मुनि को कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़ा होना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे सोना चाहिए, कैसा भोजन करना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए।[१७]

आचारांग दो श्रुतस्कन्धों मे विभाजित है—ब्रह्मचर्य और आचाराग्र। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। संयम के माध्यम से उसने सभी अध्ययनों को अनुस्यूत किया है। इस श्रुतस्कन्ध मे ९ अध्ययन हैं—सत्थपरिण्णा, लोकविजय, सीओसणिज्ज, सम्मत्त, आवंती अथवा लोकसार, धुय, विमोह, उवहाणसुय और महापरिण्णा। इनमे महापरिण्णा नामक अध्ययन उपलब्ध नहीं। समवायांग टीका में इस अध्ययन को आठवां क्रम दिया गया है। पर आचारांग निर्युक्ति मे उसका क्रम सातवां है। संभव है शीलांक के समय तक यह अध्ययन रहा हो और बाद मे किसी कारणवश उसका लोप हो गया हो। आचारांग पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति, जिनदासगणि ने चूर्णी और शीलांक ने टीका लिखी है।

आचारांग का प्रारम्भ शस्त्रपरिज्ञा (सत्थपरिण्णा) से हुआ है जिसमे जीव-संयम पर बल दिया गया है। उस समय हिंसा का वातावरण अधिक था। धर्म के नाम पर जीवों का वध एक खेल-सा बन गया था। भगवान महावीर ने जनता की मनोवृत्ति को समझा और उसे दूर करने का उपदेश दिया और कषायजन्य प्रवृत्तियों से विमुख होकर अध्यात्म मार्ग की ओर संसारियों को मोड़ने का प्रयत्न किया। इसी तरह बाह्य शुद्धि का आडम्बर, जातीय प्रधानता आदि दोषो को भी दूर करने की बात कही।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे अचेलक और सचेलक दोनों परम्पराओं का वर्णन मिलता है। सचेलकों मे एक वस्त्रधारी, द्वि-वस्त्रधारी, और त्रिवस्त्रधारी साधुओं का उल्लेख है, पर पाणिपात्री साधुओं का कोई उल्लेख नहीं। इसलिए लगता है कि पाणिपात्री

---

१६ आचारांग निर्युक्ति गाथा ८-९; आचारांग वृत्ति, पृ० ५
१७ षट्खण्डागम पृ० ९९; कषाय पाहुड, भाग १, पृ० १२२

साधुओं का अस्तित्व उत्तरकालीन विकास का परिणाम रहा होगा। समूचे स्कन्ध के अध्ययन से ऐसा लगता है कि सयोजक का झुकाव अचेलकता की ओर अधिक रहा है। उपकरण लाघव को यहाँ पर तपश्चर्या कहा गया है।[१८] और यह भी कहा गया है कि यदि भिक्षु अचेल परीषह और लज्जा परीषह न सह सके तो उसे कटि-वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इसी अध्ययन मे अचेल और सचेल के बीच किसी प्रकार की श्रेष्ठता और लघुता का भाव जागृत न हो इसके लिए दोनो अवस्थाओ मे समत्व रखने के लिए भी कहा गया है।[१९] इससे इस ग्रन्थ के सुधारात्मक दृष्टिकोण का आभास होता है। वहाँ बार-बार यह भी कहा गया है कि शीतादि की प्रतीति होने पर वस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए और बाद मे उसे छोड देना चाहिए। क्योकि लाघवता प्रमुख उत्तरकालीन विकास का परिणाम है। इसी अध्ययन मे पासत्य (पार्श्वस्थ) साधुओं का भी उल्लेख मिलता है। उनका मूलत सम्बन्ध पार्श्वपरम्परा के साधुओं से रहा होगा पर उनके आचार शैथिल्य को देखकर पासत्थ शब्द के प्रयोग मे निन्दा का भाव झलकने लगा।

जैनधर्म की प्राचीन परम्परा तथा महावीरकालीन साहित्य की दृष्टि से इस श्रुतस्कन्ध का विशेष महत्व है। उस समय प्रचलित अन्य विनय परम्पराओ का भी यहाँ खडन मिलता है। हिंसा-अहिंसा और असयम-सयम की व्याख्या मे ही यह समूचा स्कन्ध समाप्त हो जाता है। इससे यह पता चलता है कि महावीर के समय हिंसा के विविध रूप प्रचलित थे और तपस्याओ मे बाह्य शुद्धि को विशेष महत्व दिया जाता था। महावीर ने इन दोनो विचारो का खडन कर समन्वय योग की स्थापना की। इसे महावीर के आचार-विचार की सक्षिप्त रूपरेखा कहा जा सकता है।

उपधान श्रुत में महावीर की दीक्षाचर्या का वर्णन मिलता है। उपधान का अर्थ है तप। महावीर की तपोसाधना पर इसमें प्रकाश डाला गया है। इसका कुछ भाग प्रक्षिप्त-सा लगता है। इसके चर्या उद्देशक मे कहा गया है कि महावीर ने महाभिनिष्क्रमण के तेरह माह तक देवदूष्य वस्त्र धारण किया और उसके बाद उसका परित्याग किया। अथवा यो कहना चाहिए कि वह स्वयमेव खड-खंड हो गया। महावीर के वस्त्र को देवदूष्य वस्त्र कहा जाना उनके प्रति श्रद्धा की एक अभिव्यक्ति मात्र लगती है। उत्तरकालीन अधिकांश महावीर चरित आचाराग के उपधान श्रुत पर आधारित रहे हैं। लेखक का झुकाव चमत्कारिक वृत्ति की ओर दिखाई देता है जिसे बाद मे महावीर के जीवन का एक अग-सा बना दिया गया।[२०]

---

१८ लाघविय आगममाणेवे से अभिसमन्नागए भवइ—अष्टम अध्ययन, उद्देशक ४, सूत्र २१०।

१९ अष्टम अध्ययन, सप्तम उद्देशक, सूत्र २२०

२० विशेष देखिये—भगवान महावीर के जीवन में घटित चमत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्याङ्कन—डॉ० पुष्पलता जैन, जैन विद्या परिषद जयपुर में पठित निबन्ध, १९७५।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका के रूप में लिखा गया। प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित विषय को ही यहाँ विस्तार से व्याख्यायित किया गया है। प्रथम चार चूलिकाओं का सारांश तो यहाँ मिलता है, पर पाँचवीं चूलिका को पृथक रूप से निशीथ सूत्र नाम दिया गया है। आचारांग का यह भाग निश्चित ही उत्तरकालीन है। निर्युक्तिकार ने भी इसे स्थविर कृत माना है। इसकी आचार प्रक्रिया सचेलक परम्परा की ओर अधिक झुकी हुई है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा यह व्यवस्थित भी अधिक है।

महावीर के मूल उपदेश को जानने की दृष्टि से आचारांग का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। श्रमण भिक्षु के उपकरणों में यहाँ मुँह पर पट्टी जैसे किसी उपकरण का उल्लेख नहीं। पडिमा शब्द का प्रयोग भी प्रतिमा के अर्थ में दिखाई नहीं देता। बारह भावनाओं का भी छुटपुट उल्लेख हुआ है, पर स्पष्ट रूप से नहीं। अतः आचारांग भगवान महावीर के काल में प्रचलित अन्य मतवादों का सन्दर्भ देते हुए एक क्रांति दर्शन की आवश्यकता व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है और इसी भूमिका में महावीर ने जो अपना मत व्यक्त किया वह जैनधर्म का मूल रूप-सा बन गया। जैन धर्म के विकास-क्रम की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का विशेष महत्व है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन, ३४ उद्देशक, ४ चूलिका, १७६ सूत्र और ३६ गाथायें हैं। समय के अनुसार उत्तर काल में इसमें परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है। यहाँ आहार, शय्या, भाषा, पात्र, अवग्रह, मलमूत्र विसर्जन, शब्द-श्रवण, आदि सदर्भों में विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि भिक्षु को जुगुप्सित कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। वृत्तिकार ने इन जुगुप्सित कुलों में चर्मकार और दासों की गणना की है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस समय तक जैनधर्म में उच्च कुल और नीच कुल की भावना का विकास हो गया होगा।

जैन भिक्षु को सखडि (सामूहिक भोजन) कराने वाले घर से भिक्षा लेना निषिद्ध है। यदि वह यह जान ले कि वहाँ का भोजन मांस प्रधान, मत्स्य प्रधान अथवा शुष्क मांस, शुष्क मत्स्य सम्बन्धी तथा नूतन वधु-प्रवेश के अवसर पर अथवा पितृगृह में वधु के पुनः प्रवेश करने पर बनाया गया है अथवा मृतक सम्बन्धी भोजन हो या यक्षादि की यात्रा के निमित्त बनाया गया हो एवं परिजनों या मित्रों के निमित्त तैयार किया गया हो तो ऐसी सखडियों में संयमशील भिक्षु को आहार नहीं करना चाहिए। परन्तु वह यह समझे कि वहाँ जाने से हरित काय आदि जीवों की विराधना नहीं होगी और संयम की रक्षा हो सकेगी तो उस सखडी से आहार ग्रहण कर सकता है।[२१] शारीरिक दुर्बलता आदि भी अपवाद के स्थिति के सूचक हैं।

---

२१ आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, उद्देशक ४, प्रथम सूत्र

इसी उद्देशक में इस प्रकार के और भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें मांस-भक्षण की कल्पना सन्निहित है। उदाहरण के तौर पर सूत्र क्रमांक २४ में लिखा है कि यदि कोई स्थिरवासी भिक्षु अतिथि अथवा मासकल्पी भिक्षुओं से यह कहे कि अमुक ग्राम में हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। उनके यहां से आप दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, शहद, मद्य, मांस, जलेबी, श्रीखंड, पूड़ी आदि जो भी चाहें, भिक्षा में ले आयें तो यह उचित नहीं।[२२] यहां खाद्य पदार्थों में शहद, मद्य और मांस का भी उल्लेख है। वृत्तिकार[२३] ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि कोई भिक्षु प्रमादी हो अथवा लालची हो तो वह इन पदार्थों को ग्रहण कर भी सकता है। वर्तमान में अपवाद सूत्र के रूप में इसका व्याख्यान किया गया है, पर बेचरदास दोषी ने उसे उत्सर्ग सूत्र माना है।[२४]

इसी प्रकार प्रथम अध्ययन के ही उद्देशक आचारांग सूत्र ४६ में श्रमण भिक्षु के लिए पुराने मधु और मद्य को लेने का निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य है कि वह ताजा मद्य और मधु ग्रहण कर सकता है। यह भी उत्सर्ग सूत्र होना चाहिए।

आगे के उद्देशक १०, सूत्र ५८ में यह बताया है कि यदि कहीं पर अतिथि के लिए मांस अथवा मछली पकायी जाती हो अथवा तेल में पुए तले जाते हों तो भिक्षु लालचवश लेने न जाये। पर यदि भिक्षु रोगग्रस्त है तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। इसी तरह यह भी यहीं बताया गया है कि भिक्षु को अस्थि-बहुल मांस या कंटक-बहुल मछली ग्रहण नहीं करनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि क्या आप ऐसा मांस या मत्स्य ग्रहण करेंगे? तो भिक्षु यह उत्तर दे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और अस्थियां तथा कांटे न आवें इसका विशेष ध्यान रखो। इतना कहने पर भी यदि गृहस्थ अस्थि-बहुल मांस या कंटक-बहुल मत्स्य दे तो उसे लेकर एकान्त स्थान में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठकर मांस और मछली खाकर बची हुई अस्थियों और कांटों को निर्जीव स्थान में डाल दे। यहां भी मांस और मछली भक्षण का स्पष्ट उल्लेख है (मंसग मच्छग भुच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगन्तमवक्कमिज्जा)। वृत्तिकार शीलांक की दृष्टि में यह विधान किसी अच्छे वैद्य के उपदेश से लूता आदि रोग के शांत करने के लिए किया गया है।

---

२२ अवियं इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा क्षीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा गुल्लं वा तिल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा—त नो एवं करिज्जा। वही २४।

२३ अथवा कश्चिद् अति प्रमादावष्टब्धः अत्यन्तगृध्नुतया मधुमद्य मांसानि अपि आश्रयेत् अतः तदुपादानम्—आचारांगवृत्ति पृ० ३०६।

२४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ११५।

किया है।[२७] आचारांग में यद्यपि तद्युगीन अन्य मतों से सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख मिलता है पर उनका खण्डन वहाँ दिखाई नहीं देता। सूत्रकृतांग में उनका स्पष्टतः खण्डन किया गया है और साथ ही उन्हें मिथ्या, आरम्भी, प्रमादी और विषयासक्त भी कहा गया है। इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ खण्डन-मण्डन की परम्परा को लेकर सामने आया। इसमें वाद-विवाद की शैली भी प्रतिबिम्बित हो रही है। भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति लिखी। इस पर एक चूर्णी भी मिलती है। वाहरिगणि की सहायता से शीलांक ने टीका लिखी है। हर्षकुल और साधुरंग की दीपिकायें भी मिलती हैं।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन और छब्बीस उद्देशक हैं। आचारांग में गद्यांश अधिक हैं पर सूत्रकृतांग में पद्यांश अधिक है। प्रथम श्रुतस्कन्ध तो प्राय. पद्यात्मक ही है। गद्यसूत्र ४ और पद सूत्र ६३१ है। इसके तेईस अध्ययन इस प्रकार हैं—समय, वैतालीय, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरक, वीरस्तुति, कुशील परिभाषा, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवसरण, याथातथ्य, ग्रन्थ(परिग्रह), आदान, गाथा, पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहारक परिणाम, प्रत्याख्यान, अनगारगुणकीर्तिश्रुत, आर्द्रकीय और नालन्दा। समय अध्ययन में पंचमहाभूतवाद, आत्माद्वैतवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, क्रियावाद आदि सिद्धान्तों का जैन दृष्टि से खण्डन-मण्डन किया गया है। उत्तरकालीन जैन साहित्य इन वादों के खडन-मण्डन से भरा हुआ है। उसकी खण्डनात्मक शैली के देखने से ऐसा लगता है कि लेखकों ने सूत्रकृतांग में उठाये गये तर्कों का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने बौद्ध धर्म के क्रियावाद का खण्डन करते हुए उसकी अहिंसा की व्याख्या की और फिर उसकी कटु आलोचना की है। इससे यह पता चलता है कि तब तक बौद्ध धर्म में मास भक्षण प्रारम्भ हो गया था और जैन धर्म उससे दूर था। महात्मा बुद्ध जैसा कारुणिक महापुरुष मास-भक्षण की अनुमति नहीं दे सकता। त्रिपिटक जैसे ही श्रीलंका में पहुँचा कि वहाँ की संस्कृति और भौगोलिक स्थिति के अनुकूल उसमें परिवर्तन अपेक्षित हो गया। सम्भव है, संयुत्त निकाय की रूपक कथा का आधार लेकर बौद्ध धर्म में मास-भक्षण का प्रवेश हुआ हो। बौद्धदर्शन में मानसिक संकल्प ही हिंसा का कारण है पर जैनदर्शन मानसिक के साथ कायिक और वाचिक को भी जोड़ देता है।

वैतालीय अध्ययन में रागद्वेषादि विकारों से निर्मुक्त होने के मार्ग पर विचार किया गया है। यहीं रात्रि भोजन विरमण व्रत का भी उल्लेख है। सूत्रकृतांग के वीर स्तुति नामक अध्ययन में भी इसका निषेध किया गया है। रात्रि-भोजन निषेध का यह

---

२७ सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १८-१६।
२८ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १३५

प्राचीनतम उल्लेख है। उत्तरकाल मे इस पर और अधिक जोर दिया गया और इसे अष्टमूलगुणो मे भी सम्मिलित किया गया। वीर स्तुति अध्ययन मे इसे महावीर का विशेष योगदान कहा गया है।

उपसर्ग अध्ययन में साधनकाल मे आगत, बाह्य और अंतरग उपसर्गों का विवेचन किया गया हैं। इसमें कुछ ऐसी गाथायें अधिक हैं जो उत्तरकालीन लगती हैं। जैसे तृतीय उद्देशक की १६-१७ वीं गाथा मे कहा गया है कि साधुओं को दानादि देकर उनका उपकार करने का अधिकार गृहस्थों का है पर गृहस्थो के लिए इस प्रकार का कोई उपकार साधुओ द्वारा नहीं किया जाना चाहिए।[२१] वृतिकार ने इस मत को आजीविक सम्प्रदाय तथा दिगम्बर सम्प्रदाय से सबद्ध किया है। लगभग समूचे उद्देशक मे इन दोनो सम्प्रदायो की अवलोचना की गयी है। अतः यह उद्देशक इस ग्रंथ मे प्रथम शती के आस-पास जोड़ा गया होगा।

इसी अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक मे वैदिक संस्कृति मे मान्य कतिपय महापुरुषों का ससम्मान उल्लेख किया गया है और उन्हे सिद्ध तथा अर्हत् बताया गया है। ऐसे महापुरुषों मे नमिराज, रामगुप्त, बाहुक, नारायण, आसिल, देवल, द्वैपायन तथा पाराशर ऋषि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे रामगुप्त नाम पर विचार किया जाना आवश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैन सम्प्रदाय मे भी उतने ही पूज्य हैं जितने वैदिक सम्प्रदाय मे। पर उनके साथ गुप्त शब्द का प्रयोग किसी साहित्य मे देखने को नही मिलता। ऐसा लगता है, यह रामगुप्त—समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र होना चाहिए जिसे मारकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य हस्तगत किया था। यह समय ईसा की चतुर्थ शती का अंतिम काल होना चाहिए। समुद्रगुप्त का शासन लगभग ३७५ ई० तक रहा। इसके बाद कुछ वर्षों तक रामगुप्त ने शासन किया। अतः सूत्रकृताग का लेखन काल इसके बाद ही आना चाहिए। ऐसा लगता है कि रामगुप्त उत्तरकाल मे शांतिप्रिय जैन धर्मावलम्बी रहा होगा और सभव है कि वह यतिवत् भी जीवन व्यतीत करता रहा है। सूत्रकृताग मे उसे आहार लाकर सिद्धि प्राप्त करने वाला ऋषि बताया गया है। पर जैनेतर ग्रन्थो मे उसको कायर तक कहा गया है। म० प्र० से प्राप्त चन्द्रप्रभु और पुष्पदंत की मूर्तियो के पादपीठो पर उत्कीर्ण अभिलेखो मे भी रामगुप्त का उल्लेख आया है। अतः इससे रामगुप्त की ऐतिहासिकता भी सिद्ध हो जाती है। यह सभव है कि आध्यात्मिक साधना की ओर विशेष लक्ष्य रहने से रामगुप्त अपने प्रशासन की ओर ध्यान न दे सका हो और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसका लाभ उठाकर अपने भाई का वध कर दिया हो और राज्य सूत्र अपने हाथ मे ले लिया हो।

पासत्थ सम्प्रदाय की आचारगत शिथिलता को दूर करने की दृष्टि से महावीर

---

२१ धम्मपन्नवणा जा सा सारम्भा ण विसोहिआ।
ण उ एयाहि दिट्ठीहि पुव्वमासि पगप्पिअं॥ —सूत्र ३-३-१६

ने चातुर्याम के स्थान पर पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। वीरस्तुति अध्ययन में महावीर के इस योगदान का विशेष उल्लेख हुआ है।

'पुरिसोत्तरियो धम्मो' मानकर समूची स्त्रीपरिज्ञा में स्त्रियों की घनघोर निन्दा की गयी है और उन्हें वैराग्य मार्ग से पतित कराने में प्रमुख कारण माना गया है। थेरागाथा में बुद्ध के मुख से भी ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया गया। यदि महावीर और बुद्ध को नारी शक्ति को उद्धारक कहा जाय तो ये सारे उद्धरण उत्तरकालीन लगने लगते हैं; जबकि नारी को भोग्या माना जाने लगा। इसी प्रकार वीर स्तुति अध्ययन भी बाद में जोड़ा गया होगा।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्य अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें अन्य सम्प्रदायों के आचार-विचारों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें १४वां अध्ययन विशेष दृष्टव्य है जहाँ स्याद्वाद सिद्धान्त के बीज देखे जा सकते हैं। 'ण या ऽऽसियावाय वियागरेज्जा' जैसे पद्यांश में भाषा समिति का सदर्भ है और सियावाय का निषेधात्मक रूप असियावाय शब्द स्याद्वाद से सबद्ध है।[३०] इसी का विधेयात्मक रूप शब्दों में सियावाय शब्द का प्रयोग स्याद्वाद के रूप में होने लगा पर विभज्जवाय शब्द लोकव्यवहार से उठ गया। बुद्ध ने भी स्वय को विभज्जवादी कहा है पर वहाँ भी यह शब्द अधिक समय तक स्थिर नहीं रहा।

सूत्रकृताग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध पर आधारित है। जो कुछ प्रथम श्रुतस्कध में नहीं कहा गया उसे यहाँ कह दिया गया। वस्तुतः यह उसका व्याख्या भाग रहा है। वृत्तिकार ने भी इसे स्वीकार किया है। इसमें सात अध्ययन हैं जिसमें पाँचवां और छठवां अध्ययन छोड़ कर शेष सभी अध्ययन गद्यात्मक हैं। गद्य सूत्र ८२ हैं और पद्य सूत्र ८८ हैं।

इस श्रुतस्कन्ध में विभिन्न दृष्टियों से अहिंसा की व्याख्या की गयी है। हिंसा के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बौद्धधर्म में प्रतिपादित अहिंसा से जैनधर्म की अहिंसा में वैशिष्ट्य बताया है। आर्द्रक अध्ययन में भगवान महावीर और गोशालक आदि तीर्थिकों के सबध पर विचार किया गया है। आर्द्रक का उनसे शास्त्रार्थ भी हुआ। इसी तरह नालन्दा अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त का शास्त्रार्थ गौतम गणधर से हुआ जिससे पता चलता है कि पार्श्वापत्यीय परपरा के अनुयायियों ने महावीर की परम्परा को सरलतापूर्वक स्वीकार नहीं किया।

३ ठाणांग (स्थानांग)

स्थानाग एक कोश है जिसे सख्यात्मक प्रणाली के दस स्थानों में विभाजित किया गया है। ये दस स्थान इक्कीस उद्देशकों में विभक्त हैं। इसमें ७८३ गद्यसूत्र

---

३० सूत्र १-१४-१६-२०

और १६६ पद्यसूत्र हैं। दिगम्बर परम्परानुसार इसमे ४२००० पद और श्वेताम्बर परम्परानुसार ७२००० पद है। साधारणत कोश का निर्माण बाद मे ही होता है। अत: यह अधिक संभव है कि स्थानांग की रचना अन्य अंगो की रचना के बाद ही हुई होगी। अभयदेव सूरि (ई० १०६३) ने इस पर टीका लिखी है। स्मरण और धारणा की सुविधा की दृष्टि से ही विषय को कोई एक क्रम देकर निबद्ध कर दिया जाता है। निबद्धकर्त्ता के समक्ष यह कठिनाई होती है कि वह किस परम्परा को स्वीकार करे। स्थानांग वृत्ति के अन्त मे दी गई प्रशस्ति से संकलनकर्त्ता की इस समस्या को समझा जा सकता है।

इस अंग मे वर्णित विषयसूची को देखने से ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ समय-समय पर परिवर्तित-परिवर्धित होता रहा है। उदाहरणत: सात निह्नवो का यहाँ उल्लेख है—जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। निह्नव का तात्पर्य है—सत्य का अपलाप करने वाला। दिगम्बर सम्प्रदाय मे इनका कोई उल्लेख नहीं। हम यह जानते हैं कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे जामालि और तिष्य-गुप्त को छोड़कर शेष निह्नवो की उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के बाद तृतीय शती से लेकर छठी-सातवीं शती तक हुई है। बाद मे आठवें निह्नव के रूप मे दिगम्बर (बोटिक) सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति बता दी। स्थानांग मे इसका उल्लेख नहीं मिलता।

इसी प्रकार यहाँ महावीर के नव गणो का उल्लेख किया गया है—गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उडुवातितगण, विस्सवातितगण, कामड्ढितगण, माणवगण और कोडितगण। इन गणो की उत्पत्ति महावीर-निर्वाण के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद तक हुई।

स्थानांग मे चार प्रज्ञप्तियो का निर्देश है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-
[illegible]प्ति और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति। इनमे प्रथम तीन प्रज्ञप्तियो का समावेश उपांगों मे
[illegible]र दिया गया। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ अनुपलब्ध है। दिगम्बर सम्प्रदाय में
[illegible]रो प्रज्ञप्तियो को दृष्टिवाद के परिकर्म के अन्तर्गत रखा गया है।

स्थानांग मे दस दशाग्रन्थो का उल्लेख है—कम्मविवागदसाओ, उवासग-
[illegible]ओ, अन्तगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ,
[illegible]साओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ और संखेवियदसाओ। इनमे कम्मविवागदसाओ
[illegible]स्वतन्त्र ग्यारहवें अंग विपाकसूत्र मे है। आयारदसा छेदसूत्रो का दशा श्रुतस्कन्ध
[illegible]उवासगदसा, अन्तगडदसा, अणुत्तरोववाइयदसा और पण्हावागरणदसा ये अंग ग्रन्थ
[illegible] दशा ग्रन्थो मे टीकाकार भी अपरिचित हैं। उपलब्ध दशा ग्रन्थो के जिन
[illegible]ो का यहाँ नामोल्लेख मिलता है वे अध्ययन उपलब्ध नामों से भिन्न हैं।[11]
[illegible]इन अवतरणो मे ऐसा लगता है कि स्थानांग के प्राकृत मे बहुत पहले

[illegible] टीका, पृ० ४८.

परिवर्तन होता रहा है। परिवर्धन को देखते हुए इसका समय ईसा की लगभग चतुर्थ-पचम शती निश्चित की जा सकती है।[32]

४. समवायांग

स्थानाग की शैली मे ही समवायाग की रचना हुई। इसमे सभी पदार्थों का समवाय (सग्रह) किया गया है। इसमे एक से लेकर कोडाकोडी सख्या तक की वस्तुओ का सग्रह हुआ है। दिगम्बरो के अनुसार इसमे एक लाख चौसठ हजार पद थे पर श्वेताम्बर परम्परानुसार एक लाख चवालीस हजार पद थे। इसमे गद्यसूत्र १६० और पद्यसूत्र ६० हैं।

इस अग ग्रन्थ की विषय सूची को देखने से पता चलता है कि इसमे महावीर निर्वाण के काफी बाद की घटनाओं को भी सकलित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—यहाँ १०० वें सूत्र मे इन्द्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण का उल्लेख है जबकि उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण के बाद हुआ। इसी प्रकार उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, ऋषिभासित, प्रकीर्णक, नन्दीसूत्र आदि उत्तरकालीन ग्रन्थो का उल्लेख समवायाग मे हुआ है। अतः इसका भी समय ईसा की लगभग पचम शती माना जाना चाहिए। देवर्धि गणि क्षमाश्रमण के समय तक इसमे जो भी जुडता गया उस सभी का सकलन समय का ध्यान रखे बिना ही कर दिया गया।

स्थानाग और समवायाग की शैली बौद्ध पालि त्रिपिटक के अगुत्तरनिकाय तथा पुग्गलपञ्ञत्ति से मिलती-जुलती है। इसमे सकलित विषय परस्पर सम्बद्ध नहीं। सख्यात्मक दृष्टि से जो विषय जब भी ध्यान मे आया, सकलन कर दिया। सामग्री इसमे बहुत है पर वह सुव्यवस्थित और यथाकालिक नही।

५. वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)

अग ग्रन्थो मे यह ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसे भगवती सूत्र कहा गया है। अभयदेव सूरि ने वि० स० ११२८ मे इस पर टीका लिखी और दानशेखर ने लघुवृत्ति की रचना की। अभयदेव ने इसका अर्थ अनेक प्रकार से लिखा है जिससे पता चलता है कि इसका सम्बन्ध भगवान महावीर और उनके गणधरो से रहा है। इसमे गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर सकलित हुए हैं। इन प्रश्नोत्तरो की सख्या श्वेताम्बर परम्परानुसार ३६००० है पर तत्त्वार्थवार्तिक (१, २०) मे यह सख्या ६०००० बतायी गयी है। शतक, अवान्तर शतक १३८ हैं जो १६२७ उद्देशको मे विभक्त है। इन शतकों मे सौ का कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इसमें गद्यसूत्र ५२६३ और पद्यसूत्र ७२ हैं।

इसका प्रारम्भ अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा अर्वाचीनता लिए अधिक प्रतीत होता

---

३२ वेबर—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १८, पृ० ३६६

है। इसके पूर्व के पद्यों में कोई मंगलवाद नहीं यद्यपि यहाँ लेखक ने 'नमो अरिहन्ताण' आदि पदों से मंगल किया बाद में एक विषय सूचिका गाथा दी और पुनः नमो सुयस्स लिखकर ग्रन्थ प्रारम्भ किया।[1] बाद में प्रश्नकर्ता मौलिक का उल्लेख करते हुए भगवान महावीर और गौतम गणधर की गुणस्तुति की गई।

इस ग्रन्थ की विषय सूची बड़ी लम्बी चौड़ी है। इसमें महावीर और पार्श्व-पत्तीय परम्परा का सम्बन्ध वर्णित है। गोशालक का चरित्र कुछ अधिक विस्तार से मिलता है। उसके ८ दिशाचर शिष्यों का भी उल्लेख है—शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन (टीकाकार ने इनकी गणना महावीर के पथभ्रष्ट शिष्यों में की है और चूर्णिकार ने पार्श्वस्थों में)। सर्वत्र गोशालक और आजीविक सम्प्रदाय की घनघोर निन्दा मिलती है। उसका चरित्र अत्यन्त हास्यास्पद और घृणास्पद चित्रित किया गया है। सम्भव है, यह प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुआ हो। दुर्भाग्य से आजीविक सम्प्रदाय का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता अन्यथा यह गुत्थि सुलझ सकती थी। पर इतना अवश्य है कि वह एक प्रभावक सम्प्रदाय रहा होगा। त्रिपिटक में उपलब्ध प्रसंगों से भी यही तथ्य सामने आता है।

भगवती की सूची वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विविध फल वनस्पतियों आदि के नामादि गिनाये गये हैं। उनमें आलुअ शब्द द्रष्टव्य है जो वर्तमान में प्रचलित आलू का समानार्थक लगता है।

सोलहवें और अठारहवें शतकों में वर्णित घटनाओं का सम्बन्ध मुनिसुव्रत का आदि तीर्थंकरों से जोड़ा गया है और कुछ उत्तरकाल में घटित घटनाओं का भी यहाँ मावेश कर दिया गया है। उदाहरण के तौर पर यहाँ 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग आ है। जिसका सम्बन्ध यापनीय संघ से स्थापित किया जा सकता है।

हम जानते है कि यापनीय संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मिश्रित सा था। उसकी उत्पत्ति दर्शनसार के अनुसार द्वितीय शताब्दी के आस-पास होनी ए। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें लगभग प्रथम-द्वितीय शती की घटनाएं भी विष्ट हुई है। पर यह आश्चर्य का विषय है कि इसमें जैनेतर तापसों और परि- ों का उल्लेख करते समय बौद्ध सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं। इसी प्रकार ने 'व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकेषु' लिखकर उसके दण्डक नामक अधिकारों का किया है पर उपलब्ध व्याख्या प्रज्ञप्ति में इस प्रकार का कोई दण्डक नहीं जिस सन्दर्भ में इसका उल्लेख किया गया है वह विषय २४वें शतक के द्देशक के २६-२७वें प्रश्नोत्तर में अवश्य उपलब्ध होता है। सम्भव है, स विषय का विवेचन और अधिक विस्तार से रहा हो।

हित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १८६

६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथांग)

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमे ज्ञातों के नगरों, उद्यानों, चैत्यो, वनखण्डों, भगवान के समवशरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, दीक्षा, पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, सलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक मे जाना, पुनः सुकुल मे उत्पन्न होना, पुन सम्यक्त्व की प्राप्ति का लाभ और फिर अन्त-क्रिया कर मोक्ष की प्राप्ति इत्यादि विषयो का वर्णन है। तत्त्वार्थ वार्तिक और षट्खण्डागम के अनुसार इसमे आख्यानो और उपाख्यानों का कथन है।[३४]

नायाधम्मकहाओ मे दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ज्ञान श्रुत-स्कन्ध है जिसमे १६ अध्ययन, १६ उद्देशक, १४७ गद्यसूत्र और ५६ पद्यसूत्र हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध कथाश्रुतस्कन्ध है जिसमे १० वर्ग, २०६ अध्ययन, १२ गद्यसूत्र और ६ पद्यसूत्र हैं। अभयदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है।

इस ग्रन्थ मे अभयकुमार, मेघकुमार, धन्य सार्थवाह, शैलक, शुक परिव्राजक आदि महापुरुषो की कथायें वर्णित हैं। इन कथाओं के पीछे एक सुन्दर भूमिका और उद्देश्य सनिहित है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए इन कथाओ का उपयोग किया गया है। कथाओ के बीच मे ही विविध विषयो से सम्बद्ध सामग्री उल्लिखित हुई है। आठवें अध्ययन मे 'चीणचिमिढवकमग्गनास' के रूप मे चीन शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द नायाधम्मकहाओ को द्वितीय-तृतीय शताब्दी का निश्चित करने के लिए बाध्य करता है।

दूसरा श्रुतस्कन्ध विषय और शैली की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध से बिल्कुल भिन्न-सा लगता है। नन्दी और समवायाग के अनुसार प्रत्येक धर्मकथा मे ५००-५०० आख्यायिकायें, प्रत्येक आख्यायिका में पाँच-पाँच सौ उपाख्यायिकायें और प्रत्येक उपाख्यायिका मे पाँच-पाँच सौ आख्यायिका—उपाख्यायिकाएँ है। परन्तु वर्तमान मे उपलब्ध णायाधम्मकहाओ में इतनी कथायें नहीं हैं।

७. उवासगदसा (उपासकदशांग)

नन्दीसूत्र के अनुसार इसमे श्रमणोपासकों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवशरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक की ऋद्धिविशेष, अगपरित्याग, दीक्षा, सयम की पर्याय आदि का वर्णन है।

इसमे दस अध्ययन और दस उद्देशक हैं। समूचा सूत्र गद्यमय है। प्रत्येक अध्ययन मे भगवान महावीर के एक-एक उपासक का वर्णन है। इस प्रकार दस उपासकों का यहाँ चरित्र-चित्रण मिलता है। आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरा-देव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालिही-

---

३४ तत्त्वार्थवार्तिक ४, २६

अनुत्तर का तात्पर्य है श्रेष्ठतम विमान। जैनधर्म में नवग्रैवेयक विमानों के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है। इस सूत्र में ऐसे ही अनुत्तरोपपातिकों की अवस्था का वर्णन मिलता है।

१० पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणांग)

इसमें स्थानांग के अनुसार दस अध्ययन हैं—उपमा, सख्या, ऋषिभाषित, आचार्य भाषित, महावीर भाषित, क्षौमक प्रश्न, कोमल प्रश्न अद्दाग प्रश्न, अंगुष्ठ प्रश्न, और बाहु प्रश्न। (समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मन्त्रविद्या तथा अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि क्रियाओं से सम्बद्ध हैं। इसमें ४५ अध्ययन हैं।

तत्वार्थवार्तिक के अनुसार आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय के प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्नव्याकरण कहते हैं। उनमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है। षट्खण्डागम के अनुसार इसमें आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदिनी—इन चार कथाओं का निरूपण हुआ है। इसमें नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का भी वर्णन मिलता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्रश्न व्याकरण उपर्युक्त प्रश्नव्याकरण से बिलकुल भिन्न है। इसमें न तो पूर्वोल्लिखित विषय सामग्री ही है और न ४५ अध्ययन ही हैं। वहाँ तो हिंसादि पंच आस्रवों और अहिंसादि पंच संवरों का वर्णन है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उल्लिखित प्रश्नव्याकरण और उपलब्ध प्रश्नव्याकरण एक दूसरे से मेल नहीं खाते।

अभयदेव ने इस ग्रन्थ पर वृत्ति लिखी है। उन्होंने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि इस ग्रन्थ की प्राय. कूट प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। अतः उसकी अर्थ-योजना सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। अन्त में वे यह भी सहजतावश कह उठे कि जिनके पास आम्नाय नहीं है उन हमारे जैसे लोगों के लिए इस शास्त्र का अर्थ समझना कठिन है। अतः हमने यहाँ जो अर्थ दिया है, वह ठीक है, ऐसी बात नहीं है। वृत्तिकार का यह कथन स्पष्ट संकेत करता है कि परम्परागत ग्रन्थ लुप्त हो चुका था। उपलब्ध प्रतियाँ भी विश्वसनीय नहीं थीं। अभयदेव के अनुसार चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न हो, इस भय से उन्हें निकालकर उनके स्थान पर आस्रव और संवर का समावेश कर दिया गया। जो भी हो, पर यह निश्चित है कि उपलब्ध प्रश्नव्याकरण तृतीय चतुर्थ शताब्दी के आसपास संकलित किया गया होगा।

११. विवागसुय (विपाक सूत्र)

नन्दीसूत्र, तत्वार्थवार्तिक, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के अनुसार इसमें पुण्य

और पाप के विपाक का विचार किया गया है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं जिनमें दुःख और सुखविपाकों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक अध्ययन में इस प्रकरण में आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, कथा आदि से संबद्ध सामग्री सन्निहित है। दुःखविपाक के दस अध्ययनों के नाम मिलते हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौर्य, उदुम्बर, सहस्रोद्दाह-आमरक और कुमार लिच्छवी। विपाक सूत्र में इन नामों से कुछ भिन्न नाम मिलते हैं। यहाँ सुखविपाक में अध्ययनों का कोई नामोल्लेख नहीं।

१२ दिट्ठिवाए (दृष्टिवाद)

दृष्टिवाद बारहवाँ अंग था जो अत्यन्त विशाल और महत्त्वपूर्ण था। इसे आज लुप्त हुआ मान लिया गया है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार इसमें ३६३ कुवादियों के मतों का निरूपणपूर्वक खण्डन है। इसमें कौत्कल, काणेविद्ध, कौशिक, हरिश्मश्रु, माछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन, आदि क्रियावादियों के १८० भेद है। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के ८४ प्रकार है। साकल्य, वाल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानवादियों के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिकों के ३२ भेद हैं।

दृष्टिवाद को नन्दीसूत्र मे भी समस्त नय दृष्टियों का कथन करने वाला श्रुत कहा है। तत्त्वार्थवार्तिक के समान इसमे भी इसके पाँच भेद बताये गये हैं—परिकर्म, सूत्र, अनुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म सात प्रकार का है—सिद्धश्रेणिका, मनुष्य, पृष्ठ, अवगढ, उपसम्पादन, विप्रजहत् और च्युताच्युतश्रेणिका। इन परिकर्मों के पुनः भेद किये गये है। सूत्र के २२ भेद है—ऋजु, परिणतापरिणत, बहुभंगिक, विजयचरित, अनन्तर, परम्पर, आसान, संयूथ, सभिन्न, यथावाद, स्वस्तिकवर्त, नन्दावर्त, बहुल, पृष्टापृष्ट, व्यावर्त, एवंभूत, द्विकावर्त, वर्तमानपद, समभिरूढ, सर्वतोभद्र, प्रशिष्य और दुष्प्रतिग्रह। अनुयोग के दो भेद है—मूल प्रथमानुयोग और गण्डकानुयोग। चूलिका के पाँच भेद हैं—जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। प्रथम चार पूर्वों मे चूलिकायें हैं, शेष मे नहीं। पूर्व के १४ भेद हैं—

१. उत्पादपूर्व—इसमे जीव पुद्गलादि का जहाँ जैसा उत्पाद होता है, उस सबका वर्णन है। इसमे एक करोड पद हैं।

२. अग्रायणीय पूर्व—क्रियावाद आदि की प्रक्रिया और स्वसमय का विषय विवेचित है सुनय और दुर्नयों का कथन है। इसमे ९६ लाख पद है।

३ वीर्यप्रवादपूर्व—छद्मस्थ और केवली की शक्ति, सुरेन्द्र-असुरेन्द्र आदि की ऋद्धियाँ, नरेन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि की सामर्थ्य, द्रव्यों के लक्षण आदि का निरूपण है। इसमे ७० लाख पद हैं।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—पाँचों अस्तिकायों का और नयों का अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है। इसके ६० लाख पद हैं।

५. ज्ञानप्रवाद पूर्व—पाँचों ज्ञानों और इन्द्रियों का विभाग आदि निरूपित है। एक कम एक कोटि इसके पद हैं।

६. सत्यप्रवादपूर्व—वचन गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन-प्रयोग, बारह प्रकार की भाषायें, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन है। इसके एक करोड़ छः पद हैं।

७. आत्मप्रवादपूर्व—आत्मद्रव्य का और छः जीवनिकायों का अस्तिनास्ति आदि विविध भंगों से निरूपण है। इसमें २६ कोटि पद हैं।

८. कर्मप्रवादपूर्व—कर्म की बन्ध, उदय, उपशम आदि दशाओं की और स्थिति आदि का वर्णन है। इसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

९. प्रत्याख्यानपूर्व—व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि विशुद्धि के उपक्रमों का तथा मुनित्व पद के कारणों का और परिमित या अपरिमित द्रव्य और भावों के त्याग का कथन करता है। इसके ८४ लाख पद हैं।

१०. विद्यानुवादपूर्व—समस्त विद्याओं का, आठ महानिमित्तों का तद्विषयक रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवेचन है। इसके एक करोड़ दस लाख पद हैं।

११. कल्याणप्रवादपूर्व—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों के गमन, उत्पत्ति, गति का विपरीत फल, शकुनशास्त्र, तथा अर्हन्त, बलदेव आदि महापुरुषों के महाकल्याणकों का कथन करता है। इसके २६ करोड़ पद हैं।

१२. प्राणावायपूर्व—आयुर्वेद के कार्य चिकित्सा आदि आठ अंगों का, भूतिकर्म का, जांगुलि प्रक्रम का और प्राणायाम का विस्तार से कथन है। इसके एक करोड़ ५६ लाख पद हैं।

१३. क्रियाविशालपूर्व—लेख आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्प का, काव्य के गुण-दोषों का, छन्द रचनाओं का तथा क्रिया के फल के भोक्ताओं का कथन करता है। इसके ९ करोड़ पद हैं।

१४. लोकबिन्दुसार—आठ व्यवहार, चार बीज राशि, परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुत सम्पत्ति का विवरण है। इसके साढ़े बारह करोड़ पद हैं।[३५]

दृष्टिवाद की यह विशालता समस्त आगम ग्रन्थों को समाहित किये हुए है। इसमें चौदह पूर्वों को अधिक महत्त्व दिया गया। दिगम्बर परम्परा में ग्यारह अथवा बारह अंगों और चौदह पूर्वों की विशिष्ट मान्यता द्रष्टव्य है। श्वेताम्बर परम्परा में

---

३५ आचार दिनकर में उद्धृत; जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ५५२

महिला वर्ग को दृष्टिवाद के अध्ययन का अधिकार नहीं दिया गया। यह सम्भवतः दृष्टिवाद की विशालता तथा गहनता का ही कारण रहा होगा।

प्रश्न यह उठता है कि इतना विशालकाय दृष्टिवाद कहाँ गया? हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार से अंगों और पूर्वों का ज्ञान विलुप्त होता गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार पूर्वों का अंशतः ज्ञान पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम में निबद्ध किया और श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद पूर्वों का लोप हुआ और पूर्वों के साथ ही दृष्टिवाद का भी लोप हो गया।

दृष्टिवाद का उल्लेख अंगों में समवायांग[36] में मिलता है और उपांगों में औपपातिक में चउदसपुव्वी और दुवालसंगिणी तथा प्रज्ञापना में दिट्ठीवाय और पुव्वगय शब्दों का उल्लेख हुआ है। अंगों के समान उपांगों की भी संख्या बारह बताई गई है। नन्दीसूत्र आदि में दृष्टिवाद की एक विस्तृत सूची मिलती ही है। अतः उस समय तक दृष्टिवाद किसी न किसी रूप में रहा ही होगा। उत्तरकाल में धीरे-धीरे वह लुप्त हो गया। लुप्त होने का कारण यह हो सकता है कि समूचा ग्रन्थ दार्शनिक मतमतान्तरों से भरा हुआ था। दृष्टिवाद की गणना गमिकश्रुत में की गई है। गमिकश्रुत का तात्पर्य है—गणधरों द्वारा निर्मित अथवा भंग और गणित आदि से परिपूर्ण श्रुत। इसलिए उसका कठिन होना स्वाभाविक है, पर दृष्टिवाद के लोप होने में यह कारण युक्तिसंगत-सा नहीं लगता। दृष्टिवाद का लोप क्यों और कैसे हुआ, यह पहेली अभी भी अनबुझी-सी बनी हुई है।

उपांगों आदि का समावेश अंग बाह्य ग्रन्थों में होता है। उनके कालिक उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं। स्वाध्यायकाल में जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। इससे स्पष्ट है कि दृष्टिवाद को कालिक श्रुत नहीं माना गया।[37]

षट्खण्डागम[38] में वर्गणा नामक खण्ड में श्रुतज्ञान के बीस भेद बताये गये हैं—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास और पूर्व, पूर्वसमास। वीरसेन ने अंग और अंगबाह्य ग्रन्थों को अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमास में समाविष्ट किया है।

जैसा हम पीछे देख चुके हैं व्यवहार आदि सूत्र के अनुसार अंगों की उत्प

---

३६ दुवालसंगेगणिपिडगे'' दिट्ठीवाय, पृ० १३६
३७ षट्खण्डागम, भाग १, पृ० २६०
३८ वही, भाग १३, पृ० २७६

पूर्वों से मानी गई है। अंगों के अतिरिक्त अंगबाह्य ग्रन्थ हैं जिनकी रचना अंगों के आधार में हुई है। उनकी संख्या चौदह है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्य व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा निषिद्धिका। दिगम्बर परम्परा इन अंगबाह्य ग्रन्थों को भी लुप्त हुआ मानती है परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उनमें से अधिकांश ग्रन्थों को सुरक्षित माना गया है।

उपर्युक्त बारह अंगों के बारह उपांग माने जाते हैं—उववाइय, रायपसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सुरियपण्णत्ति, जम्बूदीव पण्णत्ति, चंदपण्णत्ति, निरयावलिया, कप्पावडिंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूला और वण्हिदसाओ। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उपांगों के क्रम का अंगों के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। लगभग १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में उपांगों का वर्णन भी नहीं आता। ये उपांग सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। आठवें उपांग से लेकर बारहवें उपांग तक को समग्र रूप से निरयावलियाओ भी कहा गया है।

उपांगों के बाद चार मूलसूत्र, छः छेदसूत्र और दश प्रकीर्णक ग्रन्थ भी मिलते हैं। उत्तरज्झयण, आवस्सय, दसवेयालिय और पिण्डनिज्जुत्ति या ओघनिज्जुत्ति ये चार मूलसूत्र हैं। इसका भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। छेदसूत्रों में आचार-विचार का वर्णन है। उनकी संख्या छः है—दसासुयक्खन्ध, बृहत्कल्प, ववहार, निसीह, महानिसीह और जीतकल्प। प्रकीर्णक ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचित हैं। वलभी वाचना के समय निम्नलिखित दस ग्रन्थों को ही प्रकीर्णकों में समाविष्ट किया गया—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपइण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारक, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदथुई, और मरणसमाहि। नन्दी और अनुयोगद्वार की गणना चूलिका सूत्रों में की गई। ये चूलिकासूत्र ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में माने गये हैं।

विस्तार के भय से इन ग्रन्थों की समीक्षा नहीं की जा सकती। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन ग्रन्थों में अंग ग्रन्थों की भी अपेक्षा उत्तरकालीन घटनाओं का कहीं अधिक समावेश है। उनमें कितने ग्रन्थों को और उनके कितने अंशों को महावीरकालीन माना जाय, यह कह सकना सरल नहीं। साधारणतः अंग ग्रन्थों को महावीरकालीन कहा जा सकता है।

महावीरकालीन साहित्य की दृष्टि से उपनिषद् और पालि त्रिपिटक साहित्य को भी उद्धृत किया जा सकता है पर हमने यहाँ मात्र जैन साहित्य को इस कालसीमा के अन्तर्गत रखा है। उपनिषद् और त्रिपिटक—दोनों जैन साहित्य से प्रभावित दिखाई देती हैं। उनमें परस्पर आदान-प्रदान शैली और विषय आदि की दृष्टि से हुआ है। विषय की दृष्टि से उपनिषद् महावीर के सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित लगते हैं। श्रमण विचारधारा ने वैदिक साहित्य में उपनिषद साहित्य को जन्म दिया, यदि यह

कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। त्रिपिटक और आगम मे तो भाषा, विषय और शैली, तीनों की दृष्टि से काफी समानता दिखाई देती है।[३९]

महावीरकालीन साहित्य आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि कला के क्षेत्र में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। समवायाग[४०] मे अठारह लिपियों का उल्लेख है— १-बभी (ब्राह्मी) २-जवणी लिवी (यावनी), ३-दोसाउवरिआ (दोषोपवरिका), ४-खरोट्टिआ (खरोष्ठी), ५—खरसाविआ (खरश्राविका), ६—पहाराइआ (पहारादिका), ७—उच्चतरिआ (उच्चतरिका), ८-अक्खरपुट्ठिया (अक्षरपृष्ठिका), ९—भोगवयआ (भोगवतिका), १०—वेणतिया (वैणयिका), ११—णिण्हइया (निह्नविका), १२—अंकलिवी (अंकलिपि), १३—गणिअलिवी (गणितलिपि), १४-गधव्वलिवी (गधर्वलिपि) १५-आदसलिवी (आदर्शलिपि), १६-माहेसरीलिवी (माहेश्वरीलिपि), १७-दामिलिवी (द्राविडलिपि) और १८—वोलिदिलिवी (वोलिदिलिपि)। यहाँ ऐसा लगता है कि ये सभी स्वतन्त्र लिपियाँ नही बल्कि ब्राह्मी के ही लेखन प्रकार हैं (बभीए ण लिवी अट्ठारसविहे लेखविहाणे)।

जैन साहित्य मे ब्राह्मी को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। कहा जाता है, आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को यह लिपि सिखायी थी। उसी के नाम पर इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड गया। वृत्तिकार के समय तक ये लिपियाँ अदृश्य हो चुकी होंगी। उन्होंने अपने विभिन्न रूप धारण कर लिए होंगे। यही कारण है कि अभयदेव को यह लिखना पड़ा—एतत्स्वरूप न दृष्ट, इति न दर्शितम्।

आगे ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृकाक्षरो (मूलाक्षरो) का उल्लेख हुआ है। इन अक्षरो मे ऋ, ॠ, लृ, लॄ, और ळ ये पाँच अक्षर सम्मिलित नहीं हैं। ४६ अक्षर इस प्रकार हो सकते हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये १२ स्वर, क से लेकर म तक के २५ स्पर्शाक्षर, य, र, ल, और व ये ४ अन्तस्थ, श, ष, स और ह ये ४ उष्माक्षर तथा १ क्ष = १२+२५+४+४+१=४६।

समवायाग मे भी ७२ कलाओ का उल्लेख मिलता है—लेख, गणित, रूप, नाट्य, गीत, वाद्य, स्वरविज्ञान, पुष्करविज्ञान, तालविज्ञान, द्यूत, वार्ताविज्ञान, सुरक्षाविज्ञान, पाशाक्रीडा, कुम्भकला, अन्नविधि, पानविधि, वस्त्रविधि, शयनविधि, [illegible] प्रहेलिका, मागधिका, गाथा रचना, श्लोक रचना, गन्धयुक्ति, मधुसिक्थ, आभरणविधि, तरुणी प्रतिकर्म, स्त्री लक्षण, पुरुषलक्षण, हयलक्षण, गजलक्षण, गोलक्षण, कुक्कुट लक्षण, मेढलक्षण, चक्रलक्षण, छत्रलक्षण, दण्डलक्षण, असिलक्षण, मणिलक्षण, काकिणीलक्षण, चर्मलक्षण, चन्द्रलक्षण, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित, सौभाग्य

३९ विस्तार से देखिए लेखक का ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature [illegible] अध्याय।

४० समवायाग, सूत्र १८.

कर, दौर्भाग्यकर, विद्याविज्ञान, मंत्रविज्ञान, रहस्यविज्ञान, वस्तुविज्ञान, सैन्य विज्ञान, युद्धविद्या, व्यूह रचना, प्रतिव्यूह रचना, स्कधावार विज्ञान, नगर निर्माणकला, वस्तु-प्रमाण, स्कधावार-निर्माणकला, वास्तुविधि, नगर निवास, ईमदर्थ, असिकला, अश्व-शिक्षा, हस्ती शिक्षा, धनुर्वेद, हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक, बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध-नियुद्ध, युद्धातियुद्ध, सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्तखेड, धर्मखेड, चर्मखेड, पत्रछेदन कला, कटक छेदन कला, सजीविनी विद्या और शकुनरुत ।[४१]

इन कलाओ के सन्दर्भ मे आगमो मे छुटपुट उल्लेख पृथक रूप से भी मिलते हैं। नायाधम्मकहाओ मे धनुर्वेद और सगीत का उल्लेख मिलता है।[४२] यहाँ सगीत चार प्रकार का है—वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनेय । इसमे वीणा, ताल, ताललय और वादित्र को प्रमुख स्थान दिया गया है। स्वर सात प्रकार के हैं —षडज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत, और निषाद । इन स्वरों के अग्रजिह्वा, उर, कंठोदगमन, मध्यजिह्वा, नासा, दतोष्ठ, और मूर्धा ये क्रमश सात स्वर स्थान है। मृदग, गोमुही, शख, झल्लरी, गोधिका, आडम्बर और महाभेरी इन वाद्यों मे ये स्वर निसृत होते हैं। इन स्वरो के गुण-दोष आदि पर भी यहाँ विचार किया गया है।

स्थानाग में अनेक वाद्यो का भी उल्लेख मिलता है जैसे—तत, वितत, धन और शुषिर ।[४३] इसी प्रकार चार प्रकार के नृत्य, सगीत, पात्य, अलकार और अभिनय का भी उल्लेख है ।[४४]

चित्रकला के सदर्भ मे नायाधम्मकहाओ के प्रसग महत्त्वपूर्ण है इसमे एक चित्रकार ऐसा था जो द्विपद, चतुष्पद और अपद (वृक्षादि) के एक भाग को देखकर शेष भाग को चित्रित कर दिया करता था। ये चित्रकार राजा की चित्रसभा को सजाया करते थे जो काष्ठकर्म, पोत्थकर्म आदि से सजाई जाती थी ।[४५] राजगृह आदि नगरो मे इस प्रकार की सुन्दर चित्रसभाएँ थीं।

मूर्तिकला और स्थापत्यकला की दृष्टि से भी जैनागम साहित्य उल्लेखनीय है। नायाधम्मकहाओ मे एक सुवर्णमयी प्रतिमा का उल्लेख है जिसे मणिपीठिका पर स्थापित किया गया था और जो यौवन और लावण्य मे बिलकुल मल्लिकुमारी जैसी लगती थी ।[४६]

---

४१ वही, सूत्र ७२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्ष २, सूत्र ३०
४२ नायाधम्मकहाओ ८, पृ० १०६
४३ स्थानांग ४, पृ० २७१
४४ वही ४, पृ० २७४
४५ वही, १३, पृ० १४२
४६ वही, ८, पृ० ९५

प्रमुख उपासक और उपासिकायें

भगवान महावीर के व्यक्तित्व से आकर्षित होकर उस समय के अनेक राजा, महाराजा, विद्वान, साधु और सन्यासी उनके अनुयायी बन गये थे। वे जिस दिशा मे भी धर्मप्रचारार्थ निकले, जन-समाज ने उनका हृदय से स्वागत किया और आत्मकल्याण की ओर स्वयं को लगाया।

यहाँ हम कुछ प्रमुख उपासक-उपासिकाओं और भक्तों का उल्लेख कर रहे हैं जिन्होंने भगवान महावीर के आदर्शों का अनुकरण कर अपने जीवन को कृतकृत्य किया।

राजन्य वर्ग

सम्राट श्रेणिक अथवा बिम्बिसार

मगध की राज्यक्रान्ति के बाद उसके प्रारम्भिक नरेशों में सम्राट श्रेणिक का स्थान प्रमुख है। उसने अपने पड़ोसी देश वैशाली के नरेश चेटक की पुत्री चेलना और कोशल नरेश की राजकुमारी कोशलादेवी के साथ विवाह सम्बन्ध कर उनसे स्थायी मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। बाद में उसने छोटे-मोटे राज्यों को जीत कर मगध को एक शक्तिशाली राज्य का रूप दे दिया था। लगभग पचास वर्ष तक उसने बड़ी कुशलतापूर्वक राजगृह से राज्य का संचालन किया।

महावीर का अधिकांश समय राजगृह और उसके आसपास के प्रदेशों में ही बीता। इसलिए वहाँ के राजे-महाराजे महावीर जैसे व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। स्वयं चेलना महावीर की मौसी या ममेरी बहिन थी। उसके प्रभाव से श्रेणिक भी महावीर का भक्त हो गया। भगवान महावीर का प्रथम समवशरण पावा नगरी में (दिगम्बर परम्परा के अनुसार राजगृह के पास ही विपुलाचल पर) रचा गया था। श्रेणिक सपरिवार भगवान की वन्दना करने गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उसने उनसे लगभग साठ हजार विविध प्रश्न पूछे। कहा जाता है कि उन्हीं प्रश्नोत्तरों के माध्यम से समूचा जैन साहित्य निर्मित हुआ है। महावीर भगवान से उत्तर पाकर श्रेणिक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। फलतः उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो गया।

राजा श्रेणिक के अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण, कूणिक, नन्दिषेण आदि अनेक पुत्र थे। महावीर के प्रथम धर्मोपदेश से ही अभयकुमार ने श्रावक व्रत ले लिए और कालान्तर में निर्ग्रन्थ दीक्षा भी स्वीकार कर ली। मेघकुमार आदि, मन्दादि आदि ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

श्रेणिक जीवन के अन्त तक भगवान महावीर का अनुयायी बना रहा। उसने सांस्कृतिक स्थानों के निर्माण में भी पर्याप्त योगदान दिया। उसके पुत्र अजातशत्रु कूणिक ने उसे जीवन के अन्तिम समय में कारागार में बन्द कर दिया था और वहीं उसकी मृत्यु भी हुई थी। राजा श्रेणिक के विषय में कहा गया है कि वह भविष्य में जैन तीर्थंकर होगा। अपने जीवनकाल में श्रेणिक ने प्रव्रज्या लेने वालों को सहयोग भी दिया।[1]

अजातशत्रु कूणिक

अजातशत्रु कूणिक जैन-बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। वह चेलना का पुत्र था। चेलना के ही प्रभाव से वह भगवान महावीर का भक्त हुआ। महावीर के चम्पा पहुंचने पर उसने उनका हृदय से स्वागत किया। प्रकृति से वह क्रोधी था। अपने पिता बिम्बिसार को उसने दारुण दुःख दिया था। बिम्बिसार ने अपने पुत्र हल्ल-विहल्ल को जो हाथी और हार दिये थे उनके कारण उसका युद्ध राजा चेटक से हुआ। युद्ध में चेटक के तीव्र बाणों से कूणिक के नौ भाई और अपार सेना नष्ट हो गई। तब कूणिक ने महाशिलाकटक और रथमूसल नामक प्रचण्ड अस्त्रों से वैशाली को धराशायी कर दिया। उसने राज्य लोभ के कारण अनेक युद्ध किये। अपने पिता बिम्बिसार को कारावास और वधदण्ड जैसे कुकृत्य भी उसके शिर पर बंधे हैं। महावीर की वाणी से प्रभावित होकर उसने इन्द्रभूति गौतम के पास श्रावक व्रत ग्रहण किये।[2]

राजा चेटक

चेटक वैशाली के अधिपति थे। उनकी सात पुत्रियां थीं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलना। उनमें से सुज्येष्ठा ने तो कौमार्यावस्था में ही महावीर से दीक्षा ले ली थी। शेष पुत्रियों का विवाह सम्बन्ध क्रमशः उस समय के प्रख्यात राजा उदायन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दिवर्धन और श्रेणिक बिम्बिसार के साथ हुआ था। महावीर स्वामी की माता त्रिशला दिगम्बर परम्परानुसार चेटक की पुत्री और श्वेताम्बर परम्परानुसार चेटक की बहिन थी। इसलिए राजा चेटक का भगवान महावीर की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। आवश्यक चूर्णी में उसे व्रतधारी श्रावकों में गिना गया है। चेलना से उत्पन्न कूणिक से उनका घनघोर युद्ध हुआ था जिसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं।

राजा उदयन

कौशाम्बी का राजा उदयन उद्रायण से भिन्न व्यक्तित्व था। उदयन सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक का पुत्र था। उसकी माता चेटक की पुत्री मृगावती देवी थी। वह भी भगवान महावीर का परम भक्त था। उदयन गन्धर्व विद्या में निष्णात था।

---

१ आवश्यक चूर्णि; उत्तर० पृ० १६६
२ उवासगदसाओ, पृ० २५

कहा जाता है कि चण्डप्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को गन्धर्व विद्या सिखाने के लिए उदयन को कैद किया। बाद में उदयन और वासवदत्ता का प्रणय सम्बन्ध भी हुआ। चण्डप्रद्योत तथा उदयन के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख साहित्य में मिलता है।

उदयन और वासवदत्ता की प्रणय गाथा ने साहित्य सर्जकों को बड़ी प्रेरणा दी। फलस्वरूप भास का योगन्धरायण, हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका तथा शूद्रक का चारुचरित अधिक लोकप्रिय हुआ है। इनके अतिरिक्त वीणावासवदत्ता, तापस वत्सराज आदि कृतियाँ भी साहित्यिक क्षेत्र में फलीभूत हुई हैं।

राजा उदायन अथवा उद्रायण

उदायन सिन्धु-सौवीर का महाराजा था। उसकी राजधानी वीतिभय एक सुन्दर नगरी थी। राजा उदायन महावीर का कट्टर अनुयायी था। भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर उसने राज्य त्यागने का निश्चय किया। उसने सोचा—जो राज्य स्वयं को अनर्थकारी है उसे अपने पुत्र अभीचकुमार को क्यों दिया जाय? यह विचार कर उसने अपना राज्य अपने भानजे केशिकुमार को सौंपकर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। बाद में केशिकुमार ने मिथ्याधारणा से मुनि अवस्था में ही उसका वध करा दिया।

राजकुमार जीवन्धर

दक्षिणापथवर्ती हेमांगद नामक देश के महाराजा सत्यन्धर के सुपुत्र कुमार जीवन्धर ने भी भगवान महावीर के उपदेशों का अनुसरण कर आत्मकल्याण किया। वे एक वीर योद्धा और कुशल प्रशासक थे। काष्ठांगार जैसे कृतघ्न अमात्य को उन्होंने जो पाठ दिया वह अनुकरणीय है। एक दिन उन्होंने बन्दरों के दो झुण्डों को परस्पर लड़ते हुए देखा। उनके इस स्वार्थमयी कृत्य को देखकर जीवन्धर को यह अनुभव हुआ कि जीव कितना स्वार्थी है। अपने स्वार्थ के कारण वह कितना पतित हो सकता है? इन विचारों में वे इतनी गहराई तक पहुँचे कि उनके चिन्तन में वैराग्य उमड़ आई। सौभाग्यवश महावीर भी वहाँ समय आ पहुँचे। जीवन्धर ने इस स्वर्ण अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया और उन्होंने भगवान से आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली। कालान्तर में उन्होंने विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया।

राजकुमार वारिषेण

वारिषेण [illegible] के [illegible] का पुत्र था। [illegible] वह [illegible] था। [illegible] उसका [illegible] था। [illegible] किया और [illegible] के लिए [illegible] आत्मकल्याण करने लगा।

[illegible] एक [illegible] और [illegible] था। वह [illegible] के [illegible]

था। उसी रात्रि में उस वेश्या ने महारानी चेलना का हार पाने का हठ किया। विद्युत ने अपने चौर्य-कौशल से वह हार चेलना के गले से उतार तो लिया पर उस हार की चमक के कारण राजकर्मचारी उसके पीछे भागे। बचना सम्भव न जानकर उसने वह हार श्मशान में बैठे वारिषेण के गले में डाल दिया और भाग गया। कोतवाल ने आकर वारिषेण को पकड़ लिया।

श्रेणिक को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि वारिषेण यह दुष्कृत्य करेगा। पर प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे वह न्याय से बँध गया। फलतः उसने वारिषेण को प्राणदण्ड घोषित कर दिया। आश्चर्य की बात थी कि जब चाण्डाल उसे प्राणदण्ड देने लगे तो उनके हाथ निश्चल-से हो गये। श्रेणिक उस घटना को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि वह वारिषेण की निर्दोषता को अच्छी तरह जानता था पर विवश था। श्रेणिक के अनेक बार कहने पर भी वारिषेण का मन घर की ओर नहीं मुड़ा। वह संसार के स्वभाव को समझ चुका था। स्वार्थपरता को देख चुका था। इसलिए उसने महावीर से दीक्षा ग्रहण की और कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया।

राजकुमार मेघ

मेघकुमार भी श्रेणिक का पुत्र था। वह विलासी प्रकृति का था। एक बार महावीर राजगृह में समय विराजमान थे। भक्त उनका दर्शन करने जा रहे थे। मेघकुमार भी कौतूहलवश वहाँ चला गया। उस समय महावीर भगवान जीव और कर्म के स्वभाव पर प्रवचन दे रहे थे और समझा रहे थे कि यदि व्यक्ति को मोह के बंधन से बचना हो तो वह संयम की आराधना करे। मेघकुमार विलासी अवश्य था, पर उसका मन धर्म के विपरीत नहीं था। महावीर की बात अब उसे अधिक स्पष्ट हो चुकी थी। वह माता-पिता की आज्ञा से घर छोड़कर भिक्षु बन गया। पर भिक्षु हो जाने पर भी उसके मन से राजकुमारत्व की अहंमन्यता नहीं जा सकी। भगवान महावीर ने उसका यह भाव परखा और उसे सन्मार्ग पर लगाया। उसको उन्होंने बताया कि पूर्वभव में वह हाथी के पर्याय में था और खरगोश को बचाने के लिए किस प्रकार वह तीन दिन तक लगातार तीन पैर पर खड़ा रहा। अन्त में समभावपूर्वक देह त्यागकर उसने राजकुमार का शरीर धारण किया और अब भोग ऐश्वर्य त्यागकर श्रमण बना है।

मेघकुमार का मन यह सब सुनकर प्रशान्त हो गया और निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर उसने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

राजकुमार अभय

राजकुमार अभय रानी नन्दा से उत्पन्न महाराज श्रेणिक का पुत्र था। वह कुशल राजनीतिज्ञ, विद्वान, प्रत्युत्पन्नमति, विनीत और आज्ञाकारी था। इसलिए श्रेणिक ने

१ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १०, ६, ४०८–४३६

उसे अपना प्रधानमन्त्री बनाया था। अपनी नीति-कुशलता से उसने एकाधिक बार श्रेणिक के प्रकोप से अपने समूचे परिवार को बचाया। भगवान महावीर का यह परम भक्त था।

मज्झिम निकाय मे एक अभय राजकुमार सुत्त है जिसमे उसे मूलत. निगण्ठनातपुत्त का अनुयायी बताया गया है। जैन साहित्य मे उसके अनेक मार्मिक प्रसगो का उल्लेख है। चण्डप्रद्योत के प्रचण्ड आक्रमण को उसने बड़े कौशल से बचा लिया था।

अपने पूर्वभव महावीर स्वामी से जानकर अभय ने धर्म धारण किया और दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त किया।

चण्डप्रद्योत

चण्डप्रद्योत उज्जैनी का राजा था। स्वभाव से वह अत्यन्त क्रोधी था। गोपालक और पालक उसके दो पुत्र थे। चण्डप्रद्योत आजीवन राजाओ से सघर्ष करता रहा। उसने राजगृह पर भी आक्रमण किया। पर राजकुमार अभय ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक उसे लौटा दिया। चडप्रद्योत को जब यह बात समझ मे आयी तो उसने छल से अभय राजकुमार को बन्दी बना लिया। अभय की दूरदर्शिता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर चडप्रद्योत ने उसे मुक्त कर दिया। उधर मुक्त होकर अभय ने भी छल से एक बार चडप्रद्योत को पकडा और राजगृह ले आया। श्रेणिक जैसे ही उसे मारने दौड़े, अभय ने उसे अभयदान दिया।

चडप्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को गन्धर्व विद्या सिखाने के लिए कौशाम्बी के राजा उदयन को पकडा। बाद मे उदयन और वासवदत्ता परिणय मे बध गये। उदयन ने भी प्रद्योत को बन्दी बनाया और उसे छोड दिया।

चडप्रद्योत के इस सघर्षशील स्वभाव के बावजूद वह महावीर भगवान का बडा भक्त था। उदयन के कारण उसकी श्रद्धा जाग्रत हुई थी और अन्त समय तक बनी रही थी।

दशार्णभद्र

दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। दशार्णपुर की पहचान आजकल साधारणतः विदिशा (भेलसा, म० प्र०) से की जाती है। उसी के निकट दशार्णकूट पर भगवान महावीर का समवशरण पहुँचा था। दशार्णपुर के बेसनगर, रथ्यावर्त आदि नाम भी साहित्य मे मिलते हैं। अशोक ने वहाँ राज्य किया है। समीपस्थ उदयगिरि की गुफाएँ जैन कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यहाँ का राजा दशार्णभद्र भगवान महावीर का भक्त अनुयायी था।

दधिवाहन

दधिवाहन चम्पा का राजा था। उसकी पत्नी पद्मावती महाराजा चेटक की पुत्री थी। दधिवाहन भी महावीर का अनुयायी था। उनकी प्रथम साध्वी चन्दना

सच्चक निगण्ठपुत्त

सच्चक निगण्ठपुत्त निगण्ठनातपुत्त का अनुयायी था। वह विद्वान, प्रलापी, पण्डितमानी और बहुजन-सम्मानित था। उसने बुद्ध से भी वादविवाद किया।[१२] कालान्तर मे बुद्धघोष ने अट्ठकथा मे एक कथा गढकर सच्चक को निगण्ठ-निगण्ठी का पुत्र बता दिया।[१३]

आराड कालाम

आराड कालाम वैशाली मे अपने तीन सौ शिष्यों के साथ रहते थे। बुद्ध ने भी बोधि-प्राप्ति के पूर्व उनसे ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।[१४] यहाँ आराड कालाम को जिनश्रावक कहा गया है। सम्भव है, वह पहले पार्श्वनाथ परम्परा का और बाद मे महावीर का अनुयायी रहा हो। सांख्यदर्शन से भी उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

इनके अतिरिक्त शालिभद्र, सिंहभद्र, उदर्यसिंघु, अर्जुनमाली, सद्दालपुत्र, विक्रम सिंह, गुह्यक आदि अनेक राजे-महाराजे, धनपति भगवान महावीर के भक्त रहे जिन्होंने उनके धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। हस्तिशीर्ष (कुरु का पश्चिमोत्तर प्रदेश) के राजा अदीनशत्रु के पुत्र सुबाहु, सौगन्धिका नगरी के राजा अप्रतिहत, कलिंग नरेश वीरश्रेणी और चित्रश्रेणी, पुण्ड्रवर्धन (बगाल) के राजा मिहरथ, सुष्कदेश (दक्षिण भारत) के राजा विद्रराज, मत्स्य देश (विराटनगरी, जयपुर के समीप) के राजा नन्दिवर्धन, पाचाल (काम्पिल्य) के राजा सजय, दशार्ण (मालव प्रदेश) के राजा दशार्ण भद्र, सुह्म (ताम्रलिप्त) देश का जन-जन, अश्मक-पोतनपुर (पैठन-प्रतिष्ठान बगाल-उड़ीसा का भाग) के राजा प्रसन्नचन्द्र, केकयार्धजनपद के राजा प्रदेशी, कुरुदेश हस्तिनापुर के राजा शिवराजर्षि, पुरिमताल (प्रयाग) के राजा महाबल, वर्धमानपुर (बगाल) के राजा विनयमित्र, काकन्दी नगरी (गोरखपुर) के राजा धन्य और सुनक्षत्र आदि महानुभावो ने भी भगवान महावीर के समवशरण मे आकर जैनधर्म ग्रहण किया। कहा जाता है कि काम्बोज (गान्धार का पार्श्ववर्ती प्रदेश), वाल्हीक (अफगानिस्तान के उत्तर मे), और यवन (यूनान) देशों में भी भगवान महावीर ने अपना धर्म-प्रचार किया।[१५]

उपासिका वर्ग

जैनधर्म राजन्य वर्ग तक ही सीमित नहीं था बल्कि वह महिला वर्ग में भी लोकप्रिय हो गया था। नारी लोक के जागरित करने मे महावीर ने पहल की और तत्का-

---

१२ मज्झिम निकाय, महासच्चकसुत्तन्त

१३ मज्झिम निकाय, अट्ठकथा, १, ४५०

१४ महावस्तु

१५ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग १, पृ० २८०-१

तीन प्रचलित दासता से मुक्त किया। सामाजिक क्षेत्र में यह एक नयी क्रान्ति थी। चन्दना आदि इस क्रान्ति की प्रमुख उन्नायिकाएँ थीं।

चन्दना

चन्दना चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की पुत्री थी। उसका नाम मूलतः वसुमती था। कौशाम्बी के राजा शतानीक और दधिवाहन के बीच किसी कारणवश वैमनस्य हो गया। अवसर पाकर शतानीक ने चम्पा पर आक्र- कर दिया और योद्धाओं को नगरी लूटने की छूट दे दी। दधिवाहन के मन्त्रियों दधिवाहन को तो गुप्त मार्गों से जगल में भेज दिया पर महारानी धारिणी और वसुम अन्यत्र नहीं जा सकीं। सयोगवशात् शतानीक के किसी सैनिक ने उन्हें पकड़ लिया और कौशाम्बी की ओर उन्हे लेकर निकल गया। धारिणी ने उसके दूषित विचार जानकर मार्ग मे ही अपने शील रक्षण के लिए प्राणोत्सर्ग कर दिये। सैनिक किसी प्रकार से वसुमती को ही घर तक ला सका।

कौशाम्बी पहुँच कर सैनिक ने विक्रयार्थ वसुमती को बाजार मे खड़ा कर दिया। श्रेष्ठी धनावह ने उसे खरीदा और अभिजातकुलीन कन्या समझकर उसे अपनी पत्नी मूला को सौंप दिया। पति-पत्नी ने उसका पुत्रीवत् पालन-पोषण किया।

वसुमती बड़ी मेधावी और प्रतिभासम्पन्न राजकुमारी थी। उसका स्वभाव चन्दन के समान शीतल और आनन्दकारी था। इसलिए श्रेष्ठि परिवार ने उसका नाम चन्दना रख दिया।

चन्दना अपनी बाल्यावस्था को पारकर तरुणावस्था पर आयी। उसका सौन्दर्य र भी अधिक निखर गया। उसे देखकर मूला को यह भाव आने लगा कि चित् उसका पति धनावह चन्दना के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उससे विवाह- न्ध न कर ले। इसलिए वह चन्दना को सदैव के लिए अपने मार्ग से हटा देना ी थी।

एक दिन धनावह के पैर धुलाते समय चन्दना के बाल नीचे बिख- ह ने सन्तति वात्सल्य से उन्हें उसके जूड़े मे लगा दिया। मूला ने इसे देख सकी आशंका और भी पक्की हो गई।

एक बार धनावह कहीं बाहर गये थे। अवसर का लाभ उठाकर मू ो खूब पीटा और सारे बाल कटवा दिये। बाद मे हाथ-पैर में हथकड़ी से भवरे में डाल दिया। तीन दिन तक वह भूखी-प्यासी वहीं पड़ी रही पर चिन्तन करती रही।

टने पर धनावह ने जब चन्दना को नहीं देखा तो उसके विषय मे सेवकों ी तरह एक दास ने सारी घटना बता दी। भवरे का दरवाजे खोलने प ा तो चन्दना का म्लान-मुख देखकर उसके आँसू आ गये। पाकशाला की

ओर गया तो उसे सूप मे मात्र उड़द के बाकले मिले। उन्हें चन्दना को देकर वह लोहार के पास दौड़ा।

इसी बीच भगवान महावीर अपने कठोर अभिग्रहपूर्वक आहार को निकले। उनको अपनी ओर आते हुए देखकर वह बडी प्रसन्न हुई। वह किसी प्रकार सूप लेकर देहली से बाहर निकली और तपस्वी महावीर से भिक्षा-ग्रहण करने की अभ्यर्थना की। उसके पास सूप में मात्र उड़द के बाकले थे। उसके मन मे यह बात उठी कि इतना तुच्छ आहार इतने बड़े व्यक्तित्व को कैसे समर्पित किया जाये। यही सोचकर उसकी आँखें भर आयीं। साथ ही महावीर जैसे महान पात्र को देखकर वह हर्ष से विह्वल हो उठी। आधुनिक विद्वानों ने ऐसा भी लिखा है कि महावीर ने अपने अभिग्रह की पूर्ति मे त्रुटि कमी देखी। वे भिक्षा ग्रहण किये बिना ही बाहर निकलने लगे। यह देख चन्दना की आँखों मे आँसू आ गये। अब साधक महावीर का अभिग्रह पूरा हो चुका था। उन्होंने उसकी भिक्षा को स्वीकार कर लिया।

चन्दना के इस भाग्योदय पर सभी श्रावक उसे श्रद्धा से देखने लगे। महाराजा शतानीक भी सपरिवार उसकी अभिवन्दना करने आये। शतानीक के साथ दधिवाहन का अंगरक्षक भी बन्दी के रूप मे आया था। चन्दना को देखकर वह उसके पैरों पर गिर पड़ा। पूछने पर उसने चन्दना का समूचा परिचय दिया। शतानीक की पत्नी मृगावती चन्दना की माता पद्मावती की बहिन थी। सभी मिलकर बड़े गद्‌गद हुए।

चन्दना को इस घटना के कारण ससार से वैराग्य हो गया। वह आध्यात्मिक साधना मे जुट गई। ससार के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए उसने आत्मसयम कर लिया। महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद यही चन्दना उनकी अग्रणी साध्वी आचार्या हुई। महावीर स्वामी ने श्रमणी संघ का सचालन भी चन्दना के ही हाथ सौंपा। चन्दना का दासत्व महावीर के कारण ही छूट सका।

मृगावती

कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी महारानी मृगावती महावीर स्वामी की परम भक्त थी। उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने उसे हथियाने के लिए कौशाम्बी पर आक्रमण किया। उज्जयिनी के सामने कौशाम्बी सैनिक दृष्टि से प्रबल नहीं थी। इस आक्रमण काल में शतानीक की मृत्यु हो गई। महारानी ने कौशाम्बी की यथाशक्ति रक्षा की। वह भगवान महावीर की परम भक्त थी। इसी आक्रमण के बीच महावीर स्वामी का समवशरण कौशाम्बी पहुँचा। चण्डप्रद्योत भी वहाँ दर्शनार्थ गया। महावीर का उपदेश सुनकर मृगावती अपने राजकुमार पुत्र उदयन की सुरक्षा का भार चण्डप्रद्योत को सौंपकर साध्वी हो गई। साथ ही शतानीक की बहिन जयन्ती ने भी भिक्षुणी व्रत ग्रहण किया। मृगावती जैनधर्म की अनुयायिनी थी, इसके और भी उल्लेख मिलते हैं।[१६]

---

१६ आ

कमलावती

इषुकार नगरी के राजा विशालकीर्ति की महारानी थी। दोनों ने अपने पुरोहित भृगु तथा उसके परिवार के साथ जिनदीक्षा ली।[१७]

श्रेणिक परिवार

वैशाली और चम्पा के बीच युद्ध हुआ। उसमे वैशाली की ओर से काशी-कोशल के १८ गणराज्य सम्मिलित हुए तथा कूणिक की ओर से उसके नौ भाई लड़ रहे थे। इस युद्ध मे कूणिक के नौ भाई काल के ग्रास हो गये। यह जानकर कूणिक की विमाताओ ने महावीर के सघ मे दीक्षा ले ली। इन माताओ के नाम इस प्रकार मिलते हैं—सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा।[१८]

श्रेणिक भगवान महावीर का अनन्य भक्त था। उसने यह घोषणा की कि वह जिन दीक्षा लेने से किसी को भी नही रोकेगा। यह घोषणा सुनकर श्रेणिक की रानियों ने भी दीक्षा ले ली। इन रानियो के नाम इस प्रकार मिलते हैं—नन्दा, नन्दमति, नन्दोत्तरा, नन्दसेणिया, मरुया, महामारुता, सुमारुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता। इनमे चेटक की पुत्री चेलना का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसी के कारण श्रेणिक महावीर का भक्त बना था। चेलना कुल परम्परा से ही जैन धर्मानुयायिनी थी।

इन श्रमणियों और उपासिकाओं के अतिरिक्त भगवान महावीर की कुछ और प्रमुख उपासिकाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। सद्दालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा, नन्दिनीपिता की पत्नी अश्विनी, सालिहीपिता की पत्नी फाल्गुनी, शख की पत्नी उत्पला, सुरादेव की पत्नी धन्या, चुल्लशतक की पत्नी बहुला, कामदेव की पत्नी भद्रा, महाशतक की पत्नी रेवती, आनन्द की पत्नी शिवानन्दा आदि उपासिकाओं का नाम जैन साहित्य मे आया है। भगवान महावीर के सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार मे इन महिलाओं ने उल्लेखनीय योगदान दिया है।

इस प्रकार महावीर का धर्म राजन्य वर्ग से लेकर जन सामान्य तक पहुँच चुका था। उसमे लोक मगलकारी और सचेतनादायी तत्त्व कूट-कूट कर भरे हुए थे। जन-मानस की दृष्टि को भौतिकवाद से हटाकर अध्यात्म की ओर खींचने मे उसने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अशान्ति और विषमता के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया और समाज में स्थायी शान्ति, समन्वय, सद्भाव तथा सहयोग का वातावरण निर्मित किया। यही कारण था कि महावीर का व्यक्तित्व और उनका धर्म आकर्षण का केन्द्र बन चुका था। जनता के प्रत्येक वर्ग ने उसे स्वीकार किया। उसका प्रचार और प्रसार किया। अतः वह किसी सम्प्रदाय विशेष का धर्म न होकर जनधर्म बन गया था यही उसकी विशेषता थी जिसने उसे स्थायित्व प्रदान किया।

---

१७ उत्तराध्ययन टीका, १४, पृ० ११५।१

१८ अन्तकृद्दशाओ, पृ० ३८

अध्याय ८

महावीर का दर्शन और आधुनिक मानस

महावीर का दर्शन और आधुनिक मानस

महावीरकालीन साहित्य, कला और दर्शन पर दृष्टिपात करने के बाद एक सहज प्रश्न खड़ा होता है कि आधुनिक मानस के लिए वह कहाँ तक उपयोगी है जन-साधारण के लिए। इसका सीधा उत्तर यह है कि साहित्य युगीन अवश्य होता है, पर उसे सार्वभौमिक भी होना चाहिए। सार्वभौमिकता साहित्य की वास्तविक निकष है। महावीर के साहित्य की सार्वभौमिकता यही है कि वह आज के संत्रस्त जीवन के लिए भी उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार २५०० वर्ष पहले था। इस दृष्टि से वह हमारी कसौटी पर खरा उतरता है।

समता और अहिंसा तथा अपरिग्रह और अनेकान्त इन चार महास्तम्भों पर महावीर का समूचा उपदेश प्रासाद निर्मित हुआ है। इनमें भी अहिंसा प्रधान है जो सभी को समाहित किये हुए है। जीवन के हर क्षेत्र की समस्या का समाधान अहिंसा के आचरण में सन्निहित है। यह श्रमण संस्कृति की आधारशिला है। उसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रमुख रूप हैं। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरंजित है।

अहिंसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। समत्व की प्राप्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र पर अवलम्बित है। इसी चारित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। यह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के प्रनष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत आत्मा को ही धर्म कहा गया है। धर्म की परिणति निर्वाण है।

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो॥
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो[1]
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥

इस प्रकार धर्म वस्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें

---

१ प्रवचनसार १, ६-७

सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सम्प्रदाय से सबद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमानसिक है। व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में सम्भव है।

धर्म और अहिंसा मे शब्द-भेद है, गुण-भेद नही। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अत: विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए सयम, तप, दया आदि जैसे मानवीय शब्दो का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा।

हिंसा के कारण

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद और कषाय। इनके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, कार्य मे क्रोधादिक भाव प्रकट होते हैं, जिनसे स्वय के शब्द प्रयोग रूप भावप्राणो का हनन होता है। कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्यप्राणो का भी हनन सभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तिक वेदनादान अथवा पर-द्रव्यव्यपरोपण भी इन्ही भावो का कारण है। इस प्रकार हिंसा के चार भेद हो जाते है—स्व-भाव हिंसा, स्व-द्रव्यहिंसा, पर-भावहिंसा और पर-द्रव्यहिंसा[२]। आचार्य उमास्वाति इसी को सक्षेप मे 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा' कहते हैं। इस-लिए भिक्षुओं को कैसे चलना-फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि प्रश्नों का उत्तर दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक अप्रमत्त होकर उठना-बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

> कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे कहं सए ?
> कहं भुंजन्तो भासन्तो ? पाव कम्म न बंधई ?
> जयं चरे जय चिट्ठे जयमासे जयं सए।
> जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ॥[३]

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव हैं। उनके दूर हो जाने पर स्वभावत- अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दो मे समस्त प्राणियो के प्रति सयम भाव ही अहिंसा है, 'अहिंसा निउण दिट्ठा सव्वभूएसु सजमो'।[४] जगत का हरेक प्राणी अधिकाधिक सुख-प्राप्ति के साधन जुटाता है। उसे मरने की आकाक्षा नहीं होती।[५] उसके ये सुख-प्राप्ति के साधन अहिंसा और सयम की पृष्ठभूमि मे जुटाये जाने

---

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४३
३ दशवैकालिक, ४, ७-८
४ वही ६, ९
५ वही, ६, ११

चाहिए। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहें। उसमें सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शांति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे, यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है।

> धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
> देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥[६]

अहिंसा के साधक का आचरण

अहिंसा के एक-देश का पालन गृहस्थवर्ग करता है और सर्वदेश का पालन मुनिवर्ग करता है। उसी को जैनशास्त्रीय परिभाषा में क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है। सकलचारित्र और विकलचारित्र इसी के पर्यायार्थिक शब्द हैं। गृहस्थ वर्ग आरम्भी, उद्योगी और विरोधी रूप स्थूल हिंसा का त्यागी नहीं रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार की हिंसा से दूर रहता है।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर स्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है, वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

> संजमु सीलु सउच्चु तवु सूरि हिं गुरु सोई ।
> दाह छेदक संघायकसु उत्तम कंचणु होई ॥[७]

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय विमुक्त होने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर वह पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान (अन्तर) में ही गोपन कर लेता है।[८]

---

६ दशवैकालिक, १, १, देखिए, धम्मपद १९-६
७ भाव पाहुड, गाथा १४३ की टीका
८ जहा कुम्मे स अंगाई सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे ॥—सूत्रकृतांग १, ८-१६

अहिंसा की सहयोगी भावनाएँ

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल लगता हो। तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

> सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥
> मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
> मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥[९]

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के शम, दम, धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है।[१०] इस भावना का मूल साधन विनय है। जिस प्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नहीं हो सकते, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना में स्थैर्य नहीं रह सकता।[११] इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में भी आर्य विनय का उपदेश दिया गया है।[१२]

कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रहती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है। हेय-उपादेय ज्ञान से शून्य दीन पुरुषों पर, विविध सांसारिक दुःखों से पीड़ित दुःखी पुरुषों पर, स्वयं के जीवन याचक जीव जन्तुओं पर, अपराधियों पर, अनाथ बाल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दुःख पीड़ित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। यह योगशास्त्र का कथन है।

माध्यस्थ भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। निःशंक होकर क्रूर कर्म कारियों पर, देव, धर्म व गुरु के निन्दकों पर तथा आत्मप्रशंसकों पर उपेक्षाभाव रखने को माध्यस्थ भावना कहा गया है। इसी को समभाव भी कहा गया है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, त्रस-स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, विशुद्ध हृदय से समदृष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। यही उसकी समाचारिता है। ऐसा व्यक्ति पंच व्रतों, अहिंसा, सत्य, अस्तेय,

---

९ यशस्तिलक चम्पू, उत्तरार्ध।
१० योगशास्त्र, ४, ११
११ एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो, —दशवैकालिक, ९।२।२
१२ पोतलियसुत्त

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करने वाला होता है। अहिंसा के क्षेत्र में महावीर की यह एक विशेष देन है।

अहिंसा का व्यावहारिक रूप विरोध का नाश

छठी शताब्दी ई० पू० में समाज विविध सम्प्रदायों और मतवादों की सकीर्ण विचारधारा की पृष्ठभूमि में घुटन भरी सांसो में जी रहा था। उसे बाहर आकर समता और सहानुभूति के स्वर खोजने पर भी सुनाई नहीं दे रहे थे। महावीर ने समाज की उस तीव्र अन्तर्वेदना को भली-भांति समझा तथा विश्व को एक सूत्र में अनुस्यूत करने के लिए अहिंसा और अनेकान्त के माध्यम से स्वानुभवगम्य विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

अनेकान्तवाद : कदाग्रह का अन्त

जगत सृष्टि के सर्जक तत्त्वों से आपूर है। उसके प्रत्येक तत्त्व में अनन्त रूप समाहित हैं जिन्हें पूरी तरह से समझना एक साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। उसकी ज्ञान की सीमा में तत्त्वों के असीमित रूप युगपत कैसे प्रतिभासित हो सकते हैं ? जितने रूप प्रतिभासित होंगे उनमें परस्पर विरोध की सम्भावना उतनी ही अधिक दिखाई देगी। इसी तथ्य को भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद की उपस्थापना में स्पष्ट किया है। परस्पर विरोध को बचाने की दृष्टि से अपने कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर पदार्थ में रहने वाले अन्य गुणों को भी अभिव्यक्त कर दिया जाता है। अभिव्यक्ति की इस शैली में कदाग्रह या हठवादी दृष्टिकोण नहीं रहता बल्कि दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति समादर की भावना रहती है। इसे सन्देहवाद या शायदवाद नहीं कहा जा सकता। इस शैली से अभिमान वृत्ति और वैषम्य के बीज समाप्त हो जाते हैं।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित भगवान महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्त है जो सर्वधर्मसमभाव के चिन्तन से अनुप्राणित हैं। उनमें लोकहित और लोकसंग्रह की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने के अमोघ अस्त्र हैं। समन्वय वादिता के आधार पर सर्वथा एकान्तवादियों को एक प्लेटफार्म पर ससम्मान बैठाने का उपक्रम है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। ससार में जितने भी युद्ध हुए हैं उनके पीछे यही कारण रहा है। अत. संघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि हम प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के विचारों पर उदारता और निष्पक्षतापूर्वक विचार करें। उससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही अथवा एकांगी नहीं होगा। हरिभद्रसूरि ने इसी तथ्य को इन शब्दों में कहा है:—

आग्रहीवत निनीषति युक्ति
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपात रहितस्य तु युक्ति
मंत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

भगवान महावीर का सर्वोदयी तीर्थ

महावीर के धर्म की यह अन्यतम विशेषता है कि उसमे अपरिग्रह को व्रत के रूप मे स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। पदार्थ मे विशेष आसक्ति रखना परिग्रह है। किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखा जाये—यही अपरिग्रह है। यहाँ दीन-दुखी जीवों के प्रति कारुण्य जाग्रत करना और उनके प्रति कर्तव्यबोध कराना मुख्य उद्देश्य है। द्रव्यार्जन न्यायपूर्वक करना सद्गृहस्थ का लक्षण है। आवश्यकता से अधिक संग्रहीत वस्तुओं को उस वर्ग मे वितरित कर देना आवश्यक है जिसमे उनकी कमी हो। समाजवाद का भी यही सिद्धान्त है कि सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष मे केन्द्रित न होकर समान रूप से हर घटक मे विभाजित हो। यह समाजवाद जैनाचार्यों ने २१सौ वर्ष पहले लाने का प्रयत्न किया था। समन्तभद्र ने इसी को 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" कहकर सर्वोदयवाद की स्थापना की थी।

अहिंसा वीरों का धर्म

महावीर की अहिंसा पर विचार करते समय एक प्रश्न प्रायः हर चिन्तक के मन मे उठ खड़ा होता है कि संसार मे युद्ध जब आवश्यक हो जाता है, तो उस समय अहिंसा का साधक कौन-सा रूप अपनायेगा। यदि युद्ध नही करता है तो आत्म-रक्षा और राष्ट्र-रक्षा दोनों खतरे मे पड़ जाती हैं और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा? इस प्रश्न का भी समाधान जैन चिन्तकों ने किया है। उन्होंने कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्र-रक्षा करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के शताधिक बार दांत खट्टे किए हैं। जैन साहित्य मे जैन राजाओं की युद्ध कथा पर भी बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद मे उन्ही राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। यह उनके अनासक्ति भाव का सूचक है। अत यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है।

यः शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्यात्
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमेव अस्त्राणि नृपा क्षिपन्ति
न दीनकानीन कदाशयेषु ॥ (यशस्तिलक चम्पू)

आधुनिक मानव तर्कवादी और सूक्ष्मद्रष्टा है। अन्धश्रद्धा की ओर उसका कोई झुकाव नहीं। साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और जातीय बन्धनों के कठघरों को तोड़कर वह उनसे दूर हटता चला जा रहा है। कला और विज्ञान के आलोक में वह

वह विश्व-बंधुत्व की भावना की ओर उन्मुख हो रहा है। मानवता का पुजारी बनकर मानव-मानव को जोड़ने का एक पुनीत संकल्प लिए आज की नयी पीढ़ी आगे बढ़ने का संकल्प किये हुए है। तृतीय विश्वयुद्ध की काली मेघमाला को नष्ट करने का यथाशक्य प्रयत्न करना उसका उद्देश्य बना हुआ है।

इस विश्व-बंधुत्व के स्वप्न को साकार करने में भगवान महावीर के विचार निःसंदेह पूरी तरह सक्षम हैं। उनके सिद्धान्त लोक-हितकारी और लोक संग्राहक हैं। समाजवाद और अध्यात्मवाद के प्रस्थापक हैं। उनसे समाज और राष्ट्र के बीच पारस्परिक समन्वय बढ़ सकता है और मनमुटाव दूर हो सकता है। इसलिए ये विश्व शान्ति को प्रस्थापित करने में अमूल्य कारण बन सकते हैं। महावीर इस दृष्टि से सही द्रष्टा थे और सर्वोदय तीर्थ के सही प्रणेता थे। मानव मूल्यों को प्रस्थापित करने में उनकी यह विशिष्ट देन है जो कभी भुलायी नहीं जा सकती।

इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि आधुनिक मानस धर्म को राजनीतिक हथकण्डा न बनाकर उसे मानवता को प्रस्थापित करने के साधन का एक केन्द्र बिंदु माने। मानवता का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना समता और मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिए उसका मूलभूत उपयोग हो। एतदर्थ खुला मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, सर्वधर्मसमभाव और सहिष्णुता अपेक्षित हैं। महावीर के धर्म की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत मानवीय गुणों से सिंचित है और उसकी अहिंसा वन्दनीय तथा विश्वकल्याणकारी है।
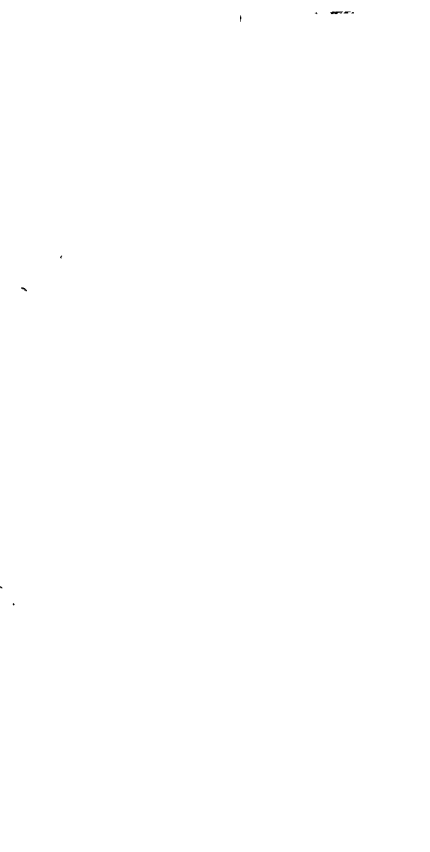
दर्शन और चिंतन

भगवान महावीर का व्यक्तित्व महामहिम और चिन्तनशील था। उन्होंने सामयिक परिस्थितियों का सूक्ष्म चिन्तन कर मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक क्षेत्र से सम्बद्ध जो दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया वह बेजोड़ था। २५०० वर्ष के बाद भी व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी उपयोगिता और आवश्यकता में क्षीणता नहीं आयी। यह उनके उपदेशों की सार्वभौमिकता का प्रबल प्रमाण है।

धर्म और अहिंसा

धर्म शब्द बड़ा व्यापक है। हर क्षेत्र का धर्म पृथक्-पृथक् होता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा साधक के धर्म की मीमांसा भी पृथक्-पृथक् होती है। इसलिए महावीर ने अहिंसामूलक धर्म की प्रस्थापना कर इस विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया।

दशवैकालिक सूत्र में अहिंसा, संयम और तप को धर्म कहा है और इसी को उत्कृष्ट मंगल अर्थात् कल्याणकारी बताया है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम इन तीन तत्त्वों को निर्वाण-प्राप्ति में कारण माना है।[2] दशवैकालिक और कुन्दकुन्द के विचारों में कोई अन्तर नहीं। मात्र कथन के प्रकार में अन्तर है। अहिंसा और तप एवं आत्मज्ञान और तत्त्वार्थश्रद्धान एक-दूसरे के परिपूरक हैं। अतएव धर्म के इन तीनों तत्त्वों को ही हम जैनधर्म कह सकते हैं। जैनधर्म का समूचा आचार-विचार इन्हीं तत्त्वों पर आधारित है। इन तीनों तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण ही आत्मज्ञान और भेद-विज्ञान की प्राप्ति में मूल कारण बनते हैं।

स्वामी कार्त्तिकेय ने धर्म के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> धम्मो वत्थुसहाओ खमादिभावो दसविहो धम्मो।
> रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥[3]

---

1. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो, —अध्ययन १, गाथा १
2. ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
   सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥—
3. कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा ४७६

इस परिभाषा में धर्म के चार तत्त्व लिये गये हैं—

(१) वस्तु स्वभाव धर्म है, (२) क्षमादि दश गुण धर्म है, (३) सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का पालन धर्म है, और (४) जीवों का संरक्षण अथवा जीव दया धर्म है।

प्रत्येक वस्तु का अपना एक स्वभाव होता है और वह स्वभाव सदैव अपरिवर्तनीय होता है। यदि परिवर्तन आता भी है तो वह अस्थिर होता है। जल का स्वभाव शीतल है पर-पदार्थ अग्नि आदि के संयोग से उसमें जो उष्णता आती है वह यथासमय दूर हो जाती है। मानव का स्वभाव मानवता है। राग-द्वेषादि कारणों से वह अभिभूत अवश्य हो जाती है पर नष्ट नहीं होती। अत. आत्मा अथवा जीव का मूल स्वभाव रागादिक विकार नहीं है। उसका स्वभाव तो समभाव में स्थिर रहना और स्व-स्वरूप में रमण करना है। मोह-क्षोभ से विरहित आत्मा का यही परिणाम समत्वभाव कहलाता है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥[४]

त्रिरत्न

भगवान महावीर ने साधना की सफलता के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनो तत्त्वों को 'त्रिरत्न' कहा गया है। दर्शन का अर्थ श्रद्धा अथवा व्यावहारिक परिभाषा में आत्मानुभूति कह सकते हैं। श्रद्धा और आत्मानुभूति पूर्वक ज्ञान और चारित्र का सम्यक् योग ही मोक्ष रूप साधना की सफलता में मूलभूत कारण है। मात्र ज्ञान अथवा मात्र चारित्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनो की समन्वित अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहा गया है।[५]

मोक्ष प्राप्ति का रत्नत्रय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास, ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार ससार के जन्म-मरण रूपी रोग से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सम्यक् योग होना आवश्यक है। क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियो की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति इधर-उधर दौड़कर भी जल जाता है और पगु व्यक्ति देखते हुए भी जलने से बच नहीं पाता। यदि अधा और पगु दोनो साथ हो जायें और नेत्रहीन व्यक्ति के कन्धे पर पगु बैठ जाये तो दोनो का उद्धार हो जाये। पगु मार्ग-निर्देशन कर ज्ञान का कार्य करे और नेत्रहीन पैरो से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनो बिना जले नगर

---

४ प्रवचनसार १,७

५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, १, १

में आ सकते हैं। एक चक्र से रथ नहीं चलता। अतः सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का संयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

> हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनो क्रिया।
> धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥
> संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञानमेकचक्रेण रथः प्रयाति।
> अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ सम्प्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ ॥[६]

जैनदर्शन मे जो स्थान सम्यग्दर्शन का है वही स्थान बौद्धदर्शन में सम्मा-दिट्ठि का है। दोनों का अर्थ भी प्रायः समान है। साधक के लिए साधना के प्रारम्भ मे यह आवश्यक है कि वह जिस साधना-पथ का अनुकरण करना चाहता है उसे समुचित रूप मे समझे और विश्वास करे। यही श्रद्धा विश्वास और ज्ञान है। आत्मा की ये दोनों अविनश्वर शक्तियाँ हैं। जिस शक्ति से पदार्थ जाने जाते हैं वह ज्ञान है और जिससे तत्त्व-श्रद्धान होता है वह दर्शन है। आत्मा में इन दोनों की प्रवृत्ति होती है। अखण्ड दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद भी नहीं है। जैसे मेघ-पटल के हटते ही सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ ही प्रस्फुटित होता है वैसे ही दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होते ही आत्मा मे सम्यक्दर्शन की प्रवृत्ति होती है। जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, आदि मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप से सम्यग्ज्ञान बन जाते हैं, पर यहाँ चूँकि दर्शन ही ज्ञान में सम्यक्त्व लाने के कारण पूज्य है अतः उसे ही प्रथम ग्रहण किया गया है। बाद में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रखा गया है। इन तीनों मे पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी और न भी हो। पर उत्तर की प्राप्ति मे पूर्व का लाभ निश्चित है। जैसे जिस साधक को सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे सम्यक्चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।[७]

भगवान महावीर ने अपने समूचे चिन्तन के प्रासाद को इन तीनों तत्त्वों के सुदृढ़ स्तम्भों पर ही खड़ा किया है। हम संक्षेप में उनका परिचय निम्न प्रकार कर रहे हैं।

सम्यग्दर्शन

भगवान महावीर ने समूचे जगत को दो तत्त्वों मे विभाजित किया है—जीव और अजीव। उनके परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का आख्यान किया गया है। इन सात तत्त्वों अथवा उनमें पुण्य-पाप

---

६ तत्त्वार्थवार्तिक १.१.४१ तुलनार्थ देखिए—आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं. —सूत्रकृताग १.१२.११

७ वही १.१, २६-२६

आकाश

आकाश भी अस्तिकायिक द्रव्य है। उसका स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य को अवकाश देना है, अवगाहन देना है। उसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में ही धर्म-अधर्म द्रव्य तिल-तैलवत् व्याप्त रहते हैं तथा वहाँ जीव और पुद्गलों की गति बनी रहती है। जहाँ तक ये द्रव्य हैं वहीं तक लोक है। लोक से बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश है। आकाश अनन्त, नित्य और अमूर्त पदार्थ है।

काल

काल को कुछ जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना और कुछ ने इसे स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। भगवती सूत्र में भी द्वितीय सिद्धान्त मिलता है। इस सन्दर्भ में दो मान्यतायें हैं। दिगम्बर मान्यता काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा उसे पृथक् द्रव्य नहीं मानती। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र) में 'कालश्चेत्येके' (५-३९) पाठ मिलता है। जिसके अनुसार काल वहाँ स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है पर दिगम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र में 'कालश्च' पाठ मिलता है जिसके अनुसार वहाँ काल को पृथक् द्रव्य स्वीकार किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी काल का व्याख्यान स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में ही किया है। तदनुसार काल अरूपी अजीव द्रव्य है। जीव और पुद्गलों के परिणमन को देख कर व्यवहार-काल का ज्ञान होता है और चूँकि बिना निश्चयकाल के जीव और पुद्गलों का परिणमन नहीं हो सकता, इसलिए जीव-पुद्गल के परिणमन से निश्चय-काल का ज्ञान होता है। व्यवहार काल पर्याय प्रधान होने से क्षणभंगुर है और निश्चय काल द्रव्य प्रधान होने से नित्य है।[१८] घड़ी, घण्टा, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि व्यवहारकाल है और पदार्थ की वर्तना (स्वसत्ता की अनुभूति) से उसके निश्चय काल का पता चलता है।[१९]

कर्म

जीव के सुख-दुःख का कारण उसके स्वयं के कर्म होते हैं। सुख-दुःख के कारण रूप विषयों का उपभोग वह स्पर्शनादि मूर्त द्रव्यों के द्वारा करता है। अतः कर्म भी मूर्त और पौद्गलिक माने जाते हैं। संसारी जीव इन्हीं कर्मों के उदय-उदीरणा के फल-स्वरूप राग-द्वेषादि अशुद्ध भाव करता है। उनसे उसे नवीन कर्मों का बन्ध होता है वह नवीन गतियों में जन्म-ग्रहण करता है, औदारिकादि शरीर पाता है, शरीर से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण होता है, विषय-ग्रहण से राग-द्वेषादि विकार भाव उत्पन्न होते हैं। विकार भावों से संसार-भ्रमण करना पड़ता है। इस

---

१८ पंचास्तिकाय, १००

१९ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य, —तत्त्वार्थ सूत्र ५-२२

प्रकार जीव पूर्वकृत कर्मों के कारण नवीन कर्मों को बांधता रहता है और संसार के परिभ्रमण से छुटकारा नहीं पाता।

संसारी जीव के साथ यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। जीव अमूर्त है और कर्म मूर्त हैं। मूर्त द्रव्य के साथ मूर्त द्रव्य का ही सम्बन्ध होता है। अतः यथार्थ में अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। पर व्यवहार नय से उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध होता है। यह इस प्रकार समझाया गया है कि रस्सी की गांठ रस्सी में लगती है किन्तु बंधती गाय है। यह सम्बन्ध तब तक बना रहता है जब तक वह नष्ट नहीं हो जाता।[२०]

राग-द्वेषादि कारणों से जीव सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहता है। वह अज्ञानतावश उनमें परम सुख का अनुभव करता है। वस्तुतः वह सुख नहीं, सुखाभास है। जीव को अपने कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। माता-पिता, पुत्र, दारा तथा अन्य सम्बन्धी तो मात्र सहानुभूति प्रगट करने वाले हैं। इसलिए पुण्यकर्म यद्यपि स्वर्गादिक के कारण हैं पर मुक्ति प्राप्ति के लिए वह भी बाधक बन जाते हैं। भगवान महावीर ने इसलिए गौतम गणधर से कहा था कि 'महावीर में भी किया गया राग पुण्यकर्म के बन्ध में कारण है और यह पुण्यकर्म निर्वाण नहीं दे सकता। अतः मुझसे ममत्व मत करो।'[२१]

इस राग-द्वेषादि का कारण जीव की अज्ञानता, तृष्णा, लोभ, मोहादि भाव हैं जिनके कारण वह संसार में अनादिकाल से भटक रहा है। ये विकार मन, वचन, काय रूप त्रियोग के निमित्त से आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं जिनके कारण ही वह भेद-विज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। भेद-विज्ञान प्राप्त न होने के कारण जीव की यह कर्मबन्ध परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्मबन्ध चार प्रकार का होता है– १. प्रकृतिबन्ध (कर्मपरमाणुओं का स्वभाव) २. स्थितिबन्ध ३. अनुभाग (फल देने की क्षमता) ४. प्रदेशबन्ध (उनकी संख्या का नियत होना)।

प्रकृतिबन्ध की दृष्टि से कर्मों को महावीर ने आठ भागों में विभाजित किया है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—कर्म का प्रमुख कार्य है—आत्मा की स्वशक्ति को आवृत्त कर देना। जो कर्म आत्मा के ज्ञान-गुण को अभिव्यक्त नहीं होने देता वह ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञान की उत्तर प्रकृतियाँ (अवान्तर भेद) पाँच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान। इनका आवरण करने से ज्ञानावरणीय कर्म के भी मतिज्ञानावरण आदि पाँच भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीय दो प्रकार के हैं—सर्वघाती और देशघाती। मतिज्ञानावरणादि प्रथम चार ज्ञानावरणीय कर्म देशघाती हैं और

२० पञ्चास्तिकाय, १२७–१३४
२१ उत्तराध्ययन १०,२८; भगवतीसूत्र

केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती है। ईर्ष्यावश ज्ञानदान नहीं देना, ज्ञान के उपकरणो को छिपा देना, ज्ञान-प्राप्ति मे विघ्न उपस्थित करना, ज्ञानी की निन्दा करना, आदि ऐसे कार्य है जिनसे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

२. दर्शनावरणीय कर्म—जो कर्म पदार्थ-दर्शन अथवा आत्मदर्शन न होने दे वह दर्शनावरणीय कर्म है। इसके चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार भेद होते है। पदार्थदर्शन न कराने मे निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि (स्त्यानर्द्धि) ये पाँच कारण भी होते है। अत दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद कहे गये हैं।

३ वेदनीय कर्म—इस कर्म से जीव को सुख-दु खादि की अनुभूति होती है इसलिए इसके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। यहाँ की सुख की अनुभूति सासारिक पदार्थो मे अनुरक्ति के कारण होती है अतः यथार्थ नहीं है। अमनोज्ञ स्पर्श, शब्द, रूप, गन्ध, रस, मन, वचन, काय, दुःखता ये आठ प्रकार के असाता वेदनीय कर्म हैं।

४. मोहनीय कर्म—सभी कर्मो मे यह कर्म प्रबलतम है। इसके कारण ...
हेयोपादेय का ज्ञान नही कर पाता। ससरण का प्रमुख कारण मोह ही है। अ...
भाव तो उसके परिपार्श्ववर्ती है। रागद्वेषादि के कारणो से ही जीव की बुद्धि तात्वि...
दर्शन और आचरण की ओर नही जाती। इसलिए इसके मूलतः दो भेद किये ग...
है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व
मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व। इनके कारण तत्त्व-श्रद्धा नही हो पाती।

चारित्रमोहनीय कर्म के कारण जीव की प्रवृत्ति सदाचरण की ओर नहीं
...कती। इसके मूल दो भेद हैं—कषाय और नोकषाय। कषाय का अर्थ है—जो
...त्मा को कष्ट दे। उसके कुल भेद सोलह होते हैं। चार प्रमुख भेद है—क्रोध, मान
...या और लोभ। हीनाधिकता के आधार पर इन चारो के चार-चार भेद होते हैं—
...न्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया,
...न; प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया,
...। इन कषायो के कारण जीव क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति मे
... है। नो कषाय का तात्पर्य है– ईषत् मनोविकार। उनकी सख्या नौ है—हास्य,
...अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुसकवेद।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद होते हैं। इन कर्मों के कारण
...मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन होता है। केवलज्ञानी श्रुत, सघ, धर्म और देवों
...र्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है और कषाय के उदय से होने वाला
...त्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का।

५. आयुकर्म—जिस कर्म से जीव की आयु का बन्ध होता है, वह कर्म आयुकर्म
...के चार भेद है—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

६ नामकर्म—यह कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि की सम्यक्-असम्यक् रचना का कारण है। इसके मूलतः दो भेद होते है—शुभ (पुण्य रूप) और अशुभ (पापरूप) गति, जाति आदि के भेद से इसके ९३ भेद होते हैं।

७. गोत्रकर्म—इस कर्म के प्रभाव से जीव को उच्चगोत्र और नीचगोत्र प्राप्त होते हैं। अतः दो भेद है। उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पापरूप।

८. अन्तराय कर्म—यह कर्म सत्कार्यों में विघ्न उपस्थित करता है। इसके पाँच भेद होते हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य।

इन कर्मों को दो भागों मे विभक्त किया गया है—घातिया और अघातिया। जो जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं वे घातिया कर्म है। इनकी सख्या चार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। शेष चार कर्म अघातिया कहे जाते हैं। घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अघातिया कर्मों की कोई विशेष शक्ति नही रह जाती। इन आठ कर्मों में प्रबलतम कर्म मोहनीय है। यही विकारो का जनक होता है। इसलिए इसका सर्वाधिक उत्कृष्टकाल माना गया है। वैसे कर्म के अनुसार ही उसकी स्थिति होती है।

आस्रव और बन्ध

पाप कर्म पुण्य का प्रतिपक्षी है। अत. पाप वह है जो आत्मा को पुण्य कार्यों की ओर से दूर रखे। यह कर्म भी अशोभन प्रकृति से सम्बद्ध है। जीव स्वय पाप करता है और उसका फल भी उसे स्वय भोगना पड़ता है। समवायाग मे अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख मिलता है—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति, अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य ये अठारह क्रियायें वस्तुत: पाप नहीं बल्कि पाप के हेतु हैं। पाप के हेतुओं का वर्णन आस्रव की सीमा मे आता है।

जीव के प्रदेशो मे कर्मों के प्रवेश द्वार को आस्रव कहते हैं। अत आस्रव कर्मागमन का हेतु है। मन, वचन और काय के परिस्पन्द को योग कहते हैं और यह योग ही आस्रव है। जैसे जलागमन द्वार से जल आता है उसी तरह योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं। जैसे गीला कपड़ा वायु के द्वारा लाई गई धूलि को चारो ओर से चिपटा लेता है उसी तरह कषाय रूपी जल से गीला आत्मा योग के द्वारा लाई गई कर्म रज को सभी प्रदेशो से ग्रहण करता है। अथवा जैसे गरम लोहपिण्ड यदि पानी मे डाल दिया जाय तो यह चारो तरफ से पानी को खींचता है उसी तरह से कषाय से सतप्त जीव योग से लाये गये कर्मों को सर्वत ग्रहण कर लेता है।[२२]

योग दो प्रकार का होता है—शुभ योग और अशुभ योग। शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का। आस्रव दो प्रकार का है—साम्प-

२२ तत्त्वार्थवार्तिक ६ २. ४-५

रायिक (आत्मा के स्वरूप का अभिभव करने वाला) और ईर्यापथिक (योगजन्य)। साम्परायिक आस्रव सकषायी जीवों के होता है और ईर्यापथिक अकषायी जीवों के।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आस्रव के चार भेद किये हैं—मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा), अविरति (हिंसादि सावद्य कार्यों में लगे रहना), कषाय (क्रोधादि परिणाम), और योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति)। उमास्वाति ने साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद किये हैं—स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और सम्यक्त्वादि पच्चीस क्रियायें। पच्चीस क्रियाओं से भावास्रव होता है और शेष कारण द्रव्यास्रव के हैं। इन्द्रिय, कषाय और अव्रत कारण हैं और क्रिया उनका कार्य। उनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। इन आस्रवों में तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात आदि भेद से हीनाधिकता आती जाती है।

कर्मास्रव के विशेषतः दो निमित्त होते हैं—जीव और अजीव। संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन-वचन-काय रूप त्रियोग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषाय जीवनिमित्तक हैं और निवर्तना (उत्पत्ति), निक्षेप (स्थापना), संयोग (मिलाना), तथा निसर्ग (प्रवृत्ति) अजीव निमित्तक हैं।

चेतन के साथ अचेतन कर्म का सम्बन्ध होना बन्ध है। अज्ञानी के रागादिक भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। कर्मों के विषय में हम पीछे देख चुके हैं।

संवर और निर्जरा

संवर का तात्पर्य है कर्मागमन को रोकना। जिस प्रकार नौका में छिद्रों से आने वाले जल का प्रवेश रोक दिया जाता है उसी प्रकार कर्मों के आस्रवद्वार को बन्द कर देना संवर है।[23] यह संवर दो प्रकार का है—द्रव्यसंवर और भावसंवर। पच पापों का न करना शुभ योग है। यही शुभ योग पुण्य कर्म का और संवर का कारण होता है। जीव से इन कर्मों का पृथक होना निर्जरा है। संवर और निर्जरा का वर्णन हम सम्यक्‌चारित्र के सन्दर्भ में आगे करेंगे।

मोक्ष

जिस प्रकार अग्नि आदि उपायों से धातु और मिट्टी दोनों अलग अलग हो जाते हैं। वैसे ही तप और संयम द्वारा जीव का कर्मरहित होना मोक्ष है।[24] यही जीव का चरम लक्ष्य होता है। जीव की विशुद्धावस्था प्रगट होने पर उसे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट होते हैं। मोक्ष से कोई भी जीव पुनः संसार में वापिस नहीं आता।

इन मान्यताओं और तत्त्वों के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि महावीर ने जगत सृष्टि को ईश्वर कर्तृक मानने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं

---

२३ आस्रवनिरोधः संवरः, तत्त्वार्थसूत्र —९.१

२४ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः, —वही, १०.२

समझी। पुद्गल द्रव्य ही भिन्न-भिन्न प्रकार से पर्यायो मे परिवर्तित होता रहता है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं। अतः उनसे संघर्ष की सम्भावना हो नहीं सकती। इस स्थिति में ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीव अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता होता ही है, फिर उसे ईश्वर की क्या उपयोगिता। वस्तुत ईश्वर जगत् का कर्ता-हर्ता है भी नहीं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए साधक मे निम्नलिखित आठ गुण (अंग) होना आवश्यक है—

१. निःशंकित—सप्ततत्त्वों और देव, शास्त्र, गुरु के विषय मे किसी प्रकार का संदेह न होना।

२ निःकांक्षित—सांसारिक वैभव, विषय-भोगो की इच्छा न करना।

३. निर्विचिकित्सा—आत्मा के गुणो मे प्रीति अथवा धर्म के फल में सन्देह न करना।

४ अमूढदृष्टि—मिथ्यादृष्टियों मे आसक्त न होना।

५ उपगूहन अथवा उपबृंहण—शुद्ध धर्म की निन्दा का प्रमार्जन करना क्षमादि भावनाओं से आत्मधर्म की वृद्धि करना।

६ स्थितिकरण—धर्म से पतित होने पर सन्मार्ग मे लगाना-लगाना।

७. वात्सल्य—सहधार्मिकों से प्रेमभाव रखना। और

८. प्रभावना—जैनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना।

सम्यग्दर्शन के विघातक दोष

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कुछ विघातक तत्त्व होते है जिनके होते हुए साधक मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। ये विघातक तत्त्व पच्चीस हैं—तीन मूढ़तायें, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष।[२४] अज्ञानता पूर्वक कार्य करना मूढ़ता है। वह तीन प्रकार की होती है—लोकमूढ़ता (सूर्य स्नानादि करना), देवमूढ़ता (कुत्सित देवताओं की पूजादि करना), और पाखण्डिमूढ़ता (पाखण्डियों को मानना)। अपनी श्रेष्ठता और दूसरे की निम्नता प्रगट करना मद कहलाते हैं। इनकी संख्या आठ है—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर। जो धर्म के आधार नहीं है वे अनायतन कहलाते हैं। इनकी संख्या छह है—कुदेव, कुमतावलम्बी, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्रज्ञ और कुलिङ्ग। सम्यग्दृष्टि जीव इन पच्चीस दोषो से विरहित होकर साधना करता है और विशुद्धितम अवस्था को प्राप्त करता है।

---

२४ यशस्तिलक चम्पू, अ० ६, पृ ----

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान के प्रकार

सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वह है जिसमें संसार के समस्त पदार्थ सही स्थिति में प्रतिबिम्बित हों। सामान्यतः ज्ञान पाँच प्रकार का होता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

जो ज्ञान स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान की उत्पत्ति का क्रम है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। पदार्थ का साक्षात्कार होना अवग्रह है। जैसे सामने वह कोई व्यक्ति आ रहा है। वह दक्षिणी है या उत्तरी इत्यादि प्रकार से उसके विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा है। तदनन्तर आकार-प्रकार आदि से यह निश्चय कर लेना कि यह उत्तरी ही है, यह अवाय है। इस अवाय को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है। यह चारों प्रकार का ज्ञान बहु, बहुविध, अल्प, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव, रूप से बारह प्रकार का होता है।

मतिज्ञान से जाने गये पदार्थ के विषय में विशेष चिन्तनात्मक ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। इसके मूलतः दो भेद होते हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग। दृष्टिवादांग के अन्तर्गत पूर्व के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। अंगबाह्य के भी सामायिक आदि चौदह भेद हैं। अन्य प्रकार से भी श्रुतज्ञान के चौदह भेद किये गये हैं—अक्षर, अनक्षर, संज्ञि, असंज्ञि, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, दोनों ज्ञान इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। श्रुत ज्ञान परोपदेशपूर्वक शब्द का अनुसरण करता है पर मतिज्ञान में शब्द का सम्बन्ध नहीं होता। जैनदर्शन में चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना गया है।

इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान के द्वारा भूत-भविष्यत काल के सीमित पदार्थों तथा दूरवर्ती वस्तुओं को जाना जा सके वह अवधिज्ञान है। इसके दो भेद होते हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशमप्रत्यय। भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक है। यह देव और नारकियों के होता है तथा कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान क्षयोपशमप्रत्ययिक है। यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। स्वरूप की अपेक्षा अवधिज्ञान के छह भेद भी माने गये हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

दूसरे के मन की बात को जानने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। वह दो प्रकार का होता है—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति ज्ञान सीधी और सरल बात को

ही जान पाता है पर विपुलमति कुटिल और कठिन बात को भी जानता है। अतः ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है। एक प्रतिपाती और दूसरा अप्रतिपाती है।

केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है। इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर साधक सर्वज्ञ कहलाने लगता है।

इन पाँचों ज्ञानों में से एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान होते हैं। केवलज्ञान अकेला ही होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपर्यय भी होते हैं और मिथ्याज्ञान भी होते हैं। मिथ्याज्ञान होने पर उन्हें कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान कहा जाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन दोष रहते हैं परन्तु अवधिज्ञान में संशय नहीं होता।

प्रमाण और नय

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तथा अनन्तधर्मात्मक होता है। उसके निर्दोष और परिपूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण वस्तु के समस्त पहलुओं का ज्ञाता होता है पर नय उसके एकदेश को ही ग्रहण कर पाता है। चूँकि पदार्थ अनन्त अवयवी होते हैं इसलिए नय भी अनन्त होते हैं। संक्षेप में उसके दो भेद किये गये हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय पदार्थ के मूल स्वभाव पर अथवा उसके त्रैकालिक अन्वित रूप पर विचार करता है तथा पर्यायार्थिक नय उसकी क्षणिक पर्यायों अथवा रूपों को उपस्थित करता है। उदाहरणतः आत्मा मूलतः अजर-अमर, विशुद्ध और ज्ञान-दर्शनवान है। परन्तु कर्मों के कारण वह संसार में जन्म-मरण करता रहता है। अतः उसकी मूल स्थिति को द्रव्यार्थिक नय व्यक्त करता है और कृत्रिम स्थिति पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत आती है।

जैन साहित्य में द्रव्यार्थिक नय के लिए निश्चयनय, शुद्धनय, परमार्थनय, ध्रुव, भूतार्थ, स्वाभाविक, स्वलक्षीनय आदि तथा पर्यायार्थिक नय के लिए व्यवहारनय अशुद्धनय, अपरमार्थनय, अध्रुव, अभूतार्थ, अस्वाभाविक, परतन्त्र आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ फिर भी यदि व्यक्ति निश्चयनय को ध्यान में रखकर वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप का कथन अथवा अनुकरण करता है, तो वह अशुभ भावों को दूर कर शुभ भावों को प्राप्त करता है और फिर शुभ भावों से शुद्धोपयोग की ओर बढ़ जाता है। अतः शुद्धावस्था प्राप्त करने के लिए जीव को निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों का यथानुसार अनुकरण करना अत्यावश्यक है। दोनों का समन्वित चिन्तन ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

नय-स्वरूप

वस्तु के अन्य धर्मों को गौण कर उसके किसी एक धर्म अथवा स्वभाव का विवेचन करना नय है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करता है और नय एकदेश

प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, विनाश और स्थिति रूप त्रयात्मक स्वभाव रहता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्यों ने एक उदाहरण उपस्थित किया है। तीन व्यक्ति एक सुनार की दूकान पर गये। उनमे से एक को सोने का घड़ा चाहिए था, दूसरे को सोने का मुकुट चाहिए था और तीसरा मात्र सोना चाहता था। सोने के घड़े से सुनार को मुकुट बनाता देखकर घड़ा चाहने वाला शोक सन्तप्त हो जाता है, मुकुट चाहने वाला प्रसन्न हो जाता है और सोना चाहने वाले को न शोक होता न हर्ष। वह तो मध्यस्थ बना रहता है। इस प्रकार वस्तु मे उत्पाद, व्यय और स्थिति तीनों धर्मों का अस्तित्व रहता है—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्॥

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वस्तु मे सत् और असत् दोनो प्रकार के धर्म विद्यमान रहते हैं। परन्तु उनके निर्धारण मे किसी प्रकार का संशय अथवा सन्देह नहीं रहता। इसलिए अनेकान्तवाद को सन्देहवाद और संशयवाद नही कहा जा सकता।

स्याद्वाद कथन करने की अनेकान्तवादात्मक प्रणाली है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्। उपर्युक्त प्रमाण और नयो का विवेचन स्याद्वाद के अन्तर्गत आता है। किसी भी प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से दिया जाता है। इसलिए स्याद्वाद के सन्दर्भ में सप्तभंगी का प्रयोग किया जाता है—

(१) स्यादस्ति
(२) स्यान्नास्ति
(३) स्यादस्तिनास्ति
(४) स्यादवक्तव्य
(५) स्यादस्तिअवक्तव्य
(६) स्यान्नास्तिअवक्तव्य,
(७) स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य

इस सप्तभंगी मे अविरोध रूप से विधि-प्रतिषेध की कल्पना सन्निहित है। सात प्रकार के प्रश्न अथवा जिज्ञासायें सप्तभंगी की संरचना में मूल कारण हैं। प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप की अपेक्षा से सत् है और पर-रूप की अपेक्षा से असत् है। यह विधि-निषेध रूप स्याद्वाद का स्वरूप है। यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग अवधारणा के अर्थ में होता है जिससे संशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद अहिंसा की प्रतिष्ठा करने वाले सिद्धान्त हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को सौहार्द्रमय बनाने के लिए इन सिद्धान्तों की महती आवश्यकता है। संघर्ष और विवाद का मूल कारण होता है-एक दूसरे के

कोण को स्वीकार नही करना। इस कदाग्रह को छोड़कर सहिष्णुतापूर्वक समन्वय की भूमिका पर पारस्परिक तनाव और वैषम्य सरलता से दूर किया जा सकता विश्वशान्ति को प्रस्थापित करने मे यह सिद्धान्त एक अमोघ साधन बन सकता है।

सम्यक्चारित्र

चारित्र का अर्थ है—आचरण करना। सम्यक् आचरण वह है जिसमें कोई पाप-क्रियायें न हो, कषाय न हों, भाव निर्मल हो, तथा पर-पदार्थों मे रागादिक विकार न हों।[२६] यह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है—गृहस्थों के लिए और मुनियो के लिए। गृहस्थो का चारित्र—देशचारित्र, सागार चारित्र, अणुव्रत अथवा श्रावक चारित्र कहा जाता है तथा मुनियों का चारित्र—सकलचारित्र, अनगारचारित्र, महाव्रत अथवा मुनिधर्म कहा जाता है।

श्रावकधर्म

श्रावक का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचो पापों को छोड़ दे। हिंसा की सीमा मे सभी पाप अन्तर्गत हो जाते हैं फिर भी उन्हें अधिक स्पष्ट करने के लिए उनको पृथक्-पृथक् कह दिया गया है। हिंसा का तात्पर्य है—प्रमाद के वश होकर किसी को दुःख पहुंचाना अथवा प्राणों का हनन करना। राग-द्वेषादि भावो के रहते हुए अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था मे जीव मरे अथवा न मरे, किन्तु हिंसा हो ही जाती है। क्योकि उन कषाय-भावों से व्यक्ति स्वयं का घात कर लेता है।[२७] इसी प्रकार राग-द्वेषादि भावों के न रहने पर हिंसा हो जाने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। इसलिए जिसके परिणाम हिंसारूप हों वह हिंसा का कोई कार्य कर सके या नहीं उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा तथा जिस व्यक्ति के शरीर से हिंसा हो गई हो और परिणाम विशुद्ध हों तो उसे हिंसा का भागी नहीं होना पड़ेगा।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।[२८]

पूर्वोक्त पंच पापो के साथ ही श्रावक मद्य, मांस, मधु तथा पंच उदम्बर (ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़ और पीपल जिनमें त्रस जीव रहते हैं) का त्याग क... है। जैनधर्म धारण करने की यह प्रथम शर्त है कि व्यक्ति मद्य, मांस, मधु तथा ...म्बर फलों का त्याग करे। इन्हीं को अष्टमूलगुण कहा गया है। उपर्युक्त पांच अ...तों का परिपालन तथा रात्रि-भोजन त्याग भी उसे आवश्यक है। यह द्रष्टव्य है ...ताम्बर साहित्य में अपवादात्मक स्थिति मे मधु को ग्राह्य माना गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३९
वही, ४६-८३
वही, ५१

इन व्रतों के पालन करने तथा उनमें विशदता लाने की दृष्टि से तीन गुणव्रतों (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत) तथा चार शिक्षाव्रतों (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण तथा अतिथि संविभाग) के परिपालन का भी विधान किया गया है। श्रावक के लिए यह भी ज्ञातव्य है कि दान देने योग्य पात्र कौन है ? यदि वह इस बात का ध्यान नहीं रखेगा तो सम्भव है, असत्पात्र में अपनी सम्पत्ति का दान कर वह हिंसा का कारण बन जाय।

श्रावक उपर्युक्त बारह व्रतों का पालन घर में रहकर करता है। व्रतपालन करने से उसकी चित्त-प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे विशुद्धता की ओर बढ़ती चली जाती हैं। आत्मा के इस आध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैनधर्म में 'प्रतिमा' कहा गया है। उनकी संख्या ग्यारह है—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।[२९] इनमें प्रारम्भ के छह प्रतिमाधारी गृहस्थ कहलाते हैं और वे जघन्य श्रावक हैं। सातवीं, आठवीं और नवीं प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी या वर्णी कहा जाता है। वे मध्यम श्रावक हैं तथा दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक भिक्षुक कहलाते हैं और वे उत्कृष्ट श्रावक हैं। इनमें दसवीं प्रतिमा तक साधक श्रावक गृहस्थावस्था में रह सकता है, पर ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने पर उसे गृहत्याग करना आवश्यक हो जाता है। उसके बाद वह परिपूर्ण निष्परिग्रही मुनि बन जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा में ११ प्रतिमा दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यपरित्याग अथवा परिग्रहत्याग, उद्दिष्टभक्तत्याग तथा श्रमणभूत है। उद्दिष्टत्याग क्षुल्लक और ऐलक रूप में दो प्रकार का है। प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में एक समान हैं। सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवां है और श्वेताम्बर परम्परा में सातवां है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्ति त्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है और दिगम्बर परम्परा में सातवां है। दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग का उल्लेख है वह श्वेताम्बर परम्परा के उद्दिष्टत्याग में समाविष्ट हो जाता है चूँकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है, उसे ही दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार भिक्षु के समान ही होता है।[३०]

---

२९ ये नाम विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न रूप से पाये जाते हैं।

३० श्रावक धर्म —देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० २७

मुनिधर्म

निष्परिग्रही मुनि के लिए जैनसाहित्य में भिक्षु, अनगारी, श्रमण आदि जै
शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रमण का अर्थ है वह साधक जो मोह, रागादिक विका
से रहित हो अथवा उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक सच्चा पथिक हो। मे
साधु के लिए दिगम्बर परम्परा में पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंच इन्द्रियवि
छह आवश्यक, केशलुञ्चनता, अचेलकता, अस्नानता, भू-शय्या, स्थिति भोजन, अदन
धावन और एकभुक्ति इन अट्ठाईस मूलगुणों का परिपालन आवश्यक है। श्वेताम्बर प
म्परा में पंचमहाव्रत, पंचेन्द्रियविजय, चारकषायविजय, भावसत्य, करणसत्य, योगस
क्षमावान्, वैराग्यवान्, मनसमाधि, वचनसमाधि, कायसमाधि, ज्ञानसम्पन्नता, दर्श
सम्पन्नता, चारित्रसपन्नता, वेदना को समभाव से सहना तथा मारणान्तिक कष्ट अ
पर भी समभाव रखना ये २७ मूल गुण सन्तों में माने गये हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं। इन प
महाव्रतों की रक्षा करने के लिए पंच समितियों का पालन किया जाता है—१
समिति (चार हाथ आगे की भूमि को देखकर चलना), २. भाषा समिति (साव
पूर्वक वचन कहना), ३. एषणा समिति (निर्दोष और प्रासुक आहार ग्रहण कर
४. आदान-निक्षेपण समिति (पीछी-कमण्डलु आदि उपकरणों को यत्नपूर्वक रखना
उठाना), तथा ५ उत्सर्ग समिति (निर्जीव स्थल पर मल-मूत्र विसर्जन करना)। स
मुनि पंचेन्द्रियजन्य विषय-वासनाओं को जीतकर सुख-दुःख, शत्रु-मित्रादि में स
तीर्थंकरों का स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (कृत अपराधों का शोधन), प्रत्याख
(त्याग) तथा कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का भी पालन करता है।

जैन मुनि हिंसादि पंच पापों के फलों पर विचार कर उनसे पूर्णतः विरक्त
के उपायों पर चिन्तन करता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव
अनुप्रेक्षण करता है तथा संवेग और वैराग्य की भावना भाता है। वह मन,
और काय की प्रवृत्तियों को प्रशस्त पथ में नियोजित करता है, उत्तम क्षमा, म
आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का
भाँति पालन करता है; अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आ
संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, और धर्म इन बारह भावनाओं का अनुचिन्तन
है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, आदि परीषहों को यथासमय शान्ति
सहन करता है; एवं सम्यक् अनशन, अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, वि
शय्यासन, (प्रतिसंलीनता) और कायक्लेश इन छः बाह्य तपों[३१] तथा प्राय
विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरंग तपों का
करता है।[३२]

---

३१ उत्तराध्ययन ३०,८

३२ वही, ३०,३०

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि निर्वाण प्राप्ति के लिए निष्परिग्रही होना आवश्यक है। परिग्रह का सम्बन्ध मूर्छा, ममता और आसक्ति से विशेष है जो मुनिजन मर्यादित वस्त्र, पात्र आदि रखते भी हैं वे संयम और लज्जा की रक्षा के लिए रखते हैं, लोभ या राग के लिए नहीं—

> जं पि वत्थं व पायं वा कम्बलं पायपुच्छणं।
> तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥[33]

संयमशील साधु समतापूर्वक कषायादि विकार भावों पर विजय प्राप्त करता है और यह प्रयत्न करता है कि सूक्ष्म चरित्र में भी किसी प्रकार की विराधना न हो। वह न तो किसी प्रकार के सत्कार की आकांक्षा करता है और न ही यशादि की। वह तो निराकुल और निष्कषायी होकर संयम की साधना करता है। उद्गमादि दोषों से रहित होकर अनाचीर्ण कर्मों से दूर रहते हैं। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिग्रह, प्रतिलेखना, गुप्ति और अभिग्रह इन कारणों का पालन करता है। प्रतिपल अप्रमादी होकर शील का परिपालन करता है तथा आर्त और रौद्र ध्यान से दूर रहकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति में सतत उद्योगी रहता है। ऐसे अप्रमादी और उद्योगी श्रमण की उपमा सर्प, पर्वत, अग्नि, समुद्र, आकाश, तरु, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और वायु से दी गई है।

> उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
> भमरमियधरणीजलरुहरविपवणसमो य सो समणो ॥[34]

इन उपायों से साधक मुनि अधिकाधिक आत्मविशुद्धि प्राप्त कर लेता है तथा अन्त में वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुक्ति-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार मिलता है।[35]

१ जीव और अजीव का सम्यग्ज्ञान
२ जीवों की गति का ज्ञान
३ बन्धन और मुक्ति का ज्ञान
४ भोगविरति
५ आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों का परित्याग
६ अनगार वृत्ति का स्वीकरण
७ संवर की साधना
८ आत्मगुणावरोधक कर्मों का निर्मूलन
९ केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति

---

३३ दशवैकालिक, ६,२०
३४ सूत्रकृतांग १-२-२-६.
३५ दशवैकालिक ४, १२-२५; दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १४५

१० योगनिरोध—शैलेशी अवस्था की प्राप्ति
११ सम्पूर्ण कर्मक्षय, तथा
१२ शाश्वत सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति

गुणस्थान

इन्हें हम आध्यात्मिक विकास के सोपान कह सकते हैं। इनमें आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इन सोपानों को जैन साहित्य में गुणस्थान कहा गया है। इनकी संख्या चौदह है—१. मिथ्यादृष्टि २ सास्वादन, ३ सम्यक्-मिथ्यादृष्टि ४ अविरत सम्यग्दृष्टि, ५ देशविरति (विरताविरत), ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर), ९. अनिवृत्तिबादर, १० सूक्ष्मसंपराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगि केवली और १४ अयोगि केवली।

आध्यात्मिक विकास के सोपान

हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास को क्रमशः योगदृष्टि समुच्चय और योग बिन्दु में दो प्रकार से उपस्थित किया है। प्रथम प्रकार में अविकासकाल को ओघ दृष्टि तथा विकासक्रम को सद्दृष्टि की संज्ञा दी है। सद्दृष्टि के आठ भाग किये हैं—मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। दूसरा प्रकार योग परक है जिसके पाँच भेद किये हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। निर्वाण प्राप्ति के ये विविध सोपान हैं जिन्हें साधक क्रमशः प्राप्त करता रहता है।

भगवान महावीर के ये सिद्धान्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन आधारशिलाओं पर टिके हुए हैं। तीनों के समन्वित रूप का परिपालन धर्म के यथार्थ रूप समता की प्राप्ति में मूलभूत कारण है। यह तथ्य किसी कालखण्ड से जकड़ा हुआ नहीं है। वह तो अबाधित, असीमित और सार्वभौमिक तथ्य है जो जीवन के प्रत्येक अंग को स्वस्थ और समृद्ध कर देता है।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत ने महावीर के दर्शन को सर्वोदयी बना दिया। अमीर और गरीब के बीच की खाई को भरने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह न करे और संग्रहीत वस्तु को प्रसन्नतापूर्वक ऐसे व्यक्तियों को बाँट दे जिनको उसकी नितान्त आवश्यकता हो। यही सच्चा समाजवाद है। इसी समाजवाद पर सर्वोदय निर्भर है। सर्वोदय के इस पुनीत मूल सूत्र को समन्तभद्र ने इन शब्दों में गूँथा है।

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्प,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

प्राचीन काल में जातिभेद का भयंकर बवण्डर खड़ा हुआ था। उस समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार प्रमुख वर्गों में विभक्त था। इस विभाजन से ऊँच-नीच के विचारों से प्रभावित होकर समाज की संघटना में द्वेष का विषाक्त बीज घर कर चुका था। उसे दूर करने के लिए महावीर ने यह क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया कि जिनेन्द्र भगवान का यह शासन ऊँच-नीच सभी के लिए समान रूप से है, क्योंकि जिस प्रकार एक स्तम्भ के आश्रय से प्रासाद टिक नहीं सकता, उसी प्रकार एक पुरुष के आश्रय से जैनशासन भी स्थिर नहीं रह सकता।

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥

इस जातिवाद को सुव्यवस्थित करने के लिए महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार लिया। उन्होंने कहा कि उच्च कुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊँचा तभी हो सकता है जबकि उसका चरित्र या कर्म ऊँचा हो। इसलिए महावीर ने चारों जातियों की समानता के आधार पर एक नई व्याख्या की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में देखा (मनुष्यजातिरेकैव)।

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई सुद्दो होई कम्मुणा॥
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते॥

महावीर का यह चिंतन आधुनिक चिंतन के अधिक निकट है। अब जातिभेद और वर्णभेद का समय नहीं। कोई भी देश इन भेदात्मक तत्त्वों पर स्थायी रूप से स्थिर नहीं रह सकता। मानवता को खण्ड-खण्ड कर उसमें से देवत्व कैसे प्रतिबिम्बित हो सकता है?

एक ओर जहाँ महावीर ने आचार-क्षेत्र में क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये वहीं दूसरी ओर विचारक्षेत्र में भी उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, उनका कहना था कि सर्वसाधारण व्यक्ति किसी भी वस्तु या व्यक्ति को सर्वांशतः नहीं जान सकता। विभिन्न संघर्षों का कारण एकांशिक प्रतीति और उसी प्रतीति के लिए कदाग्रही बने रहना है। इसलिए 'ही' का दुराग्रह छोड़कर 'भी' का निर्वचन किया जाना चाहिए। दूसरे की दृष्टि को समझना हमारा परम कर्त्तव्य है। यही उसके प्रति हमारा आदर है। प्रत्येक दृष्टिकोण में कुछ न कुछ सत्यांश रहता है जिसे उपेक्षित करना सत्य का अपलाप और अपमान करना होगा। विश्व शांति के लिए यह विचार अमोघ अस्त्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। महावीर ने इस सिद्धान्त को कथन के क्षेत्र में स्याद्वाद और चिंतन के क्षेत्र में अनेकांतवाद की संज्ञा दी है। सर्वधर्मसमन्वय के क्षेत्र में यह एक महनीय चरण था। आचार्य हरिभद्रसूरि ने

कहा है कि व्यक्ति को किसी अर्थ विशेष मे आकृष्ट न होकर निष्पक्षतापूर्वक विचार करना चाहिए।

आग्रही बत निनीषति युक्तिं
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति
र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए समन्वयवाद पर विचार किया। उन्होंने कहा कि मैं किसी तीर्थंकर या विचारक का पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु जिसका वचन तर्कसिद्ध प्रतीत होगा उसी को मैं स्वीकार करूँगा।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

आज की विश्व समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे इस सिद्धान्त को देखा जाय तो अधिकाश ज्वलन्त समस्याएँ अपना सन्तोषप्रद समाधान निश्चित रूप मे पा सकती है। पारस्परिक दृष्टिकोण को न समझना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। इस कारण को दूर कर मैत्रीभाव स्थापित करने मे अनेकान्तवाद पूर्णतः सक्षम है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने समाज और देश को अभ्युन्नत करने के लिए सभी प्रकार से प्रयत्न किया। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार दूरकर सर्वोदयी विचारधारा को प्रचारित करने का अथक प्रयत्न किया। धनोपार्जन के सिद्धान्तो को न्यायवत्ता की ओर मोडा। मूक प्राणियो की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी सजीवनी से दूर किया, सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द बयार से शात किया। जीवन के हर अग मे अहिंसा के महत्त्व को प्रदर्शित कर मानवता के सरक्षण मे महावीर स्वामी ने अधिकाधिक योगदान दिया। यह उनके गहन चिन्तन और समीक्षण का ही परिणाम था।

☆

अध्याय १०

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ई० पू० छठी शताब्दी के महान् क्रान्तिकारी युग-पुरुष थे। उन्होंने समाज में व्याप्त अन्ध-श्रद्धाओं और आचार-शैथिल्य को दूर कर सम्यग्ज्ञान की पृष्ठभूमि में सम्यक्आचार का परिनिर्माण किया था। ज्ञान और आचार का यह समन्वय उनके उपदेशों की मूलभूत विशेषता कही जा सकती है। श्रमण संस्कृति की आधारशिला पर खड़े रहने पर भी दोनों महापुरुषों में दार्शनिक मतभेद भी कम नहीं रहे। इन मतभेदों ने ही बुद्ध को पृथक धर्म संस्थापित करने के लिए प्रेरित किया जबकि महावीर ने अपने परम्परागत धर्म में समागत असम्यक् प्रवृत्तियों को दूरकर उसी का प्रचार-प्रसार किया।

दोनों व्यक्तित्व प्रारम्भ में भले ही अपरिचित रहे हों पर बाद में वे अपरिचित नहीं रह सके। उनकी जीवन-घटनाएँ समान दिखती हुई भी भिन्न रही हैं। प्रस्तुत अध्याय में ऐसी ही घटनाओं का पर्यवेक्षण किया गया है।

परिनिर्वाण

महावीर और बुद्ध के काल निर्णय के सन्दर्भ में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अतः उन सब तथ्यों को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। बस, यहाँ मैं इतना कहना चाहता हूँ कि पालि-त्रिपिटक में आये एतत्सम्बन्धी उद्धरणों को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। महावीर के परिनिर्वाण से सम्बद्ध तीन उद्धरण त्रिपिटक में मिलते हैं।

(i) दीघनिकाय के पासादिकसुत्तन्त में चुन्द सामगाम (शाक्य देश) जाकर आनंद के माध्यम से बुद्ध को प्रसन्नतापूर्वक यह समाचार देता है कि महावीर का परिनिर्वाण पावा में हो गया और उनके संघ में कलह प्रारम्भ हो गई।

(ii) दीघनिकाय का संगीतिपरियाय सुत्त भी लगभग ऐसा ही उद्धरण प्रस्तुत करता है। यहाँ बुद्ध स्वयं पावा में ठहरे हुए हैं और पावावासियों ने उन्हें नवनिर्मित सन्थागार को उद्घाटित करने के लिए निवेदन किया। यहाँ बुद्ध के साथ आनन्द नहीं, बल्कि सारिपुत्र हैं जिन्होंने भिक्षुसंघ को बुलाकर यह समाचार दिया और इस प्रकार का विवाद न करने के लिए कहा। चुन्द के दिए समाचार को सुनकर सम्भवतः बुद्ध पावा आये हों और वो सन्थागार महावीर के लिए निर्मित किया गया है। उसे उनके

परिनिवृ'त हो जाने पर बुद्ध द्वारा उद्घाटित किया गया हो। यहाँ यह भी द्रष्टव्य
कि बुद्ध सारिपुत्र से कहते है—"पिट्ठि मे आगिलायति, तमहं आयमिस्सामी ति
इससे स्पष्ट है कि बुद्ध इस समय तक बिलकुल वृद्ध हो गए थे। सारिपुत्र इसी घ
के बाद अपने परिनिर्वाण के लिए पावा से अन्तिम विदा लेकर नालक ग्राम गये,
सात दिन बाद वे स्वर्गस्थ भी हो गये। इसी के एराध वर्ष बाद ही बुद्ध का
परिनिर्वाण हो गया।

(iii) मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्तन्त में आनंद के माध्यम से यही घ
बुद्ध तक पहुँचाई गई। आनन्द ने यह भी कहा कि भगवान बुद्ध इस घटना को सुन
बहुत प्रसन्न होंगे—'एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम'। थेरीगाथा (१६०) के अनु
आनद बुद्ध की प्रव्रज्या के लगभग बीस वर्ष बाद प्रव्रजित हुए। अतः यह घ
निश्चित ही अन्तिम समय की होगी। मुनि नगराज जी ने बुद्ध का परिनिर्वाण ५
ई० पू० माना जो इस घटना के आधार पर सम्यक् नही ठहरता।

इन उद्धरणों से ऐसा लगता है कि महावीर के निर्वाण के बहुत थोड़े स
बाद ही बुद्ध का निर्वाण हुआ था। डॉ० जेकोबी ने इन उद्धरणो को मात्र इस
असगत माना है कि उनका उल्लेख परिनिव्वाणसुत्त मे नही हुआ।[1] परन्तु इसे अस
या अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योकि महापरिनिब्बाणसुत्त का उद्देश्य
प्रसगो का उल्लेख करना नहीं था। मुनि नगराज जी ने उन्हें अप्रामाणिक अवश्य
माना पर उत्तरकालिक माना है जो ठीक नही। उद्धरणों से स्पष्ट आभास होता है
उक्त घटना के समय बुद्ध और सारिपुत्र बिलकुल वृद्ध हो चुके थे।

जहाँ तक दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त), सयुत्तनिकाय (दहरसुत्त) तथा सु
निपात (सभियसुत्त) के उद्धरणो का प्रश्न है जहाँ बुद्ध को निगण्ठनातपुत्त अ
तीर्थंकरों की अपेक्षा दहर और नवप्रव्रजित कहा गया है। (समणो हि गोतमो द
चेव जातियो नवो च पब्बज्जायाति), यह भी ठीक है। इन प्रकरणों मे बुद्ध ने सम
शिष्टाचारवश अपने को दहर बताया हो और फिर यह भी असंभव नहीं कि शिष्य
ने अपने धर्मनायक को अल्पवयस्क पर कुशल ज्ञाता बताने की दृष्टि से ऐसा
दिया हो।

अत: मुझे तो अब ऐसा लगता है कि महावीर और बुद्ध के परिनिर्वाण
अधिक अन्तर नहीं रहा होगा। विचारश्रेणी आदि ग्रन्थो के अनुसार महावीर
निर्वाण विक्रम सवत् के ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। यह सवत् विक्रम के राज्यारोहण
प्रारम्भ होता है जो उसके जन्म के अठारह वर्ष बाद हुआ। अत महावीर का निर्
५७+१८+४७०=५४६-४५ ई०पू० माना जाना चाहिए[2] तथा बुद्ध का परिनिर्

---

१ श्रमण, वर्ष १३, अक ६, पृ० १३

२ यह लेखक का अपना मत है।

सिंहल परम्परा द्वारा मान्य ५४४—५४३ ई० पू० स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार दोनों महापुरुषों के परिनिर्वाण में एक वर्ष का अन्तर रहा होगा। डॉ० कामता प्रसाद पाठक आदि विद्वान भी इसी विचार को स्वीकार करते हैं।

जन्म और पारिवारिक स्थिति

दोनों महापुरुषों का जन्म समान परिस्थिति और वातावरण में हुआ। बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ जो शाक्य गणतन्त्र था। महावीर वैशाली के कुण्डलपुर में जन्मे जो लिच्छवि गणतन्त्र था। दोनों की दूरी में भी कोई बहुत अन्तर नहीं। बुद्ध का जन्म ६२४–६२३ ई० पू० (५४४-५४३+८०) में हुआ और महावीर का जन्म ६१९–६१७ ई० (५४६–४५+७२) में हुआ। अतः बुद्ध महावीर से लगभग छः वर्ष ज्येष्ठ थे। बुद्ध क्षत्रिय और ब्राह्मण कुल में ही उत्पन्न होते हैं और दोनों कुलों में क्षत्रिय कुल को श्रेष्ठतर मानते हैं परन्तु महावीर आदि तीर्थंकर तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्यत्र उत्पन्न ही नहीं होते।

बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन, माता का नाम महामाया और बुद्ध का नाम सिद्धार्थ था। शुद्धोदन और सिद्धार्थ ये दोनों नाम पार्श्वापत्यीय जैन-परम्परा से सम्बद्ध होने चाहिए। शुद्धोदन सूर्यवंशी और गौतम गोत्री थे। कुल शाक्य था। कपिलवस्तु गणराज्य के महासामंत राजा थे। पूर्वज इक्ष्वाकु थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ महाराजा चेटक के सामंत थे। चेटक लिच्छवि गणराज्य का प्रधान था। उसकी राजधानी वैशाली थी। माता त्रिशला चेटक की ही बहिन या पुत्री थी। महावीर भी क्षत्रिय जाति और नाथ या ज्ञातृवंश के थे। पूरा परिवार पार्श्वनाथ-परम्परा का अनुयायी था। महावीर का जन्म-नाम वर्धमान था। कोई उन्हें वैशालिक भी कहते थे। पर आगे चलकर उनके नाम वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर आदि भी प्रचलित हुए। ये सभी नाम विभिन्न घटनाओं पर आधारित हैं। पालि त्रिपिटक तथा जैनागम में उन्हें निगण्ठनातपुत्त कहकर स्मरण किया गया।

जैनधर्म में तीर्थंकरत्व तथा बौद्धधर्म में बुद्धत्व प्राप्ति का वर्णन है। महावीर के तीर्थंकरत्व का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परा तेतीस पूर्व भवों से जोड़ती है तथा श्वेताम्बर परम्परा २६ अथवा २७ पूर्वभवों का वर्णन करती है। दोनों परम्परायें महावीर के प्रमुख पूर्वभवों का ही वर्णन करती हैं अतः कोई विवाद का विषय नहीं। बुद्ध का भी बुद्धत्व से सम्बन्ध ऐसे ही पूर्वभवों से रहा है। इस संबंध में उनके पांच सौ सत्ताईस अथवा पांच सौ इक्यावन पूर्वजन्मों का वर्णन मिलता है।

कालदेवल आदि ऋषियों की वाणियों से प्रेरित होकर शुद्धोदन ने गौतम का ध्यान विषयोपभोग की ओर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा का स्वयंवर हुआ जिसमें गौतम ने १६ वर्ष की अवस्था में देवदत्त आदि शाक्य कुमारों को सरलता से पराजित कर उसका पाणिग्रहण किया। प्रतियोगिता के विषय थे—(१) गजराज उत्क्षेपण, (२) लिपिज्ञान, (३) गणित, (४) धनुषचालन,

(५) मल्लयुद्ध, (६) ललितकलायें, (७) काव्य निर्माण, (८) शास्त्रज्ञान
राहुल की माता भी बनी।

महावीर भी अध्यात्म प्रेमी थे। माता-पिता ने उनके समक्ष विवाह
रखा पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। दिगम्बर परंपरा उनको अन्ततः
मानती है पर श्वेताम्बर परंपरा वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय
के साथ सम्बन्ध को स्वीकार करती है। कालांतर में महावीर एक पुत्री
हुए जिसका विवाह सम्बन्ध जमालि के साथ हुआ।

महावीर की शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में कोई विशेष सामग्री नहीं
मात्र यही मिलता है कि जिनसेन के अनुसार सजयन्त और विजयन्त नामक
उन्हें देखकर ही अपनी शंकाएं दूर कर लीं। बुद्ध की भी शिक्षा-दीक्षा
अधिक जानकारी नहीं। ललितविस्तर में उनके गुरु का नाम विश्वामित्र
है। विश्वामित्र ने दस हजार बालकों के साथ बुद्ध को पढ़ाना प्रारम्भ किया
स्वर और वर्ण के साथ बौद्ध सिद्धान्तों का योग किया गया है।[3]

बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के लिए निदान किया था, पर महावीर ने ती
के लिए ऐसा कोई निदान नहीं किया था, क्योंकि निदान करना जैनधर्म
गया है। इतना अवश्य है कि बुद्धत्व और तीर्थंकरत्व प्राप्ति के निमित्त सम
दिखाई देते हैं।

बुद्धत्व प्राप्ति के लिए पारमिताओं की प्राप्ति को अन्यतम कारण
प्राचीनतम पालि साहित्य में पारमिताओं का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता।
के दसुत्तरसुत्त व संगीतिसुत्त में बौद्ध मन्तव्यों की सूची दी गई है परन्तु
मिताओं का उल्लेख नहीं मिलता। मज्झिमनिकाय में 'पारमियतो' शब्द अव
है, पर पारमिता के अर्थ में नहीं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि पार
सिद्धांत मूल रूप से थेरवादी परंपरा में नहीं था। सर्वास्तिवादी और
परम्पराओं ने बौद्ध धर्म में श्रद्धा जाग्रत करने की दृष्टि से पारमिताओं
किया होगा।[4] इन्हीं का प्रभाव उत्तरकालीन पालि साहित्य पर दृष्टिगोच
इसी आधार पर जातक कथाओं का निर्माण हुआ है। यहाँ दस पारमिताओं
मिलता है—दान, शील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खान्ति, सच्च, अधि
व उपेक्खा। इन दस पारमिताओं का आधार बौद्ध संस्कृत साहित्य में प्राप्त
मितायें हैं—दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। थेरवादी परम्परा

---

३ ललितविस्तर, पृ० ८६; देखिये, लेखक की पुस्तक—बौद्ध संस्कृति का
पृ० १२-१३

४ Aspects of Mahayana Buddhism and its relation to H
p. 11.

सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता व उपेक्खा को और जोड दिया गया है तथा ध्यान पारमिता को छोड दिया गया है। दसभूमिकसूत्र मे षट्पारमिताओ मे उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान को जोडकर दस पारमिताएं की गई हैं। उपेक्खा व मेत्ता ब्रह्म-विहारो के अन्तर्गत आये हैं तथा सच्च को शील में परिगणित किया जा सकता है। अधिट्ठान को प्रणिधान में गर्भित कर सकते हैं। नेक्खम्मपारमिता (गृहत्याग) पर थेरवादियो ने विशेष ध्यान दिया जबकि महायानी परम्परा उस पर अधिक ध्यान नही दे सकी। महासाघिको और सर्वास्तिवादियो ने उसे पृथक् माना।

जैन साहित्य की दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के निमित्त सोलह भावनाओं का वर्णन मिलता है जिनका परिपालन करने से साधक तीर्थंकर बन सकता है—१. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील और व्रतो मे अनतिचार ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६ यथा शक्ति त्याग, ७. तप, ८. साधु-समाधि, ९. वैयावृत्ति, १०. अर्हद् भक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३ प्रवचन भक्ति, १४. आवश्यक अपरिहाणित्व, १५. मार्ग प्रभावना, और १६. प्रवचन वात्सल्य।[५] नायाधम्मकहाओ मे कुछ परिवर्तन के साथ सिद्धवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वी वत्सलता तथा अपूर्वज्ञानग्रहण इन चार भावनाओं को और जोड दिया गया है।[६]

बौद्ध साहित्य में महापुरुष के प्रायः बत्तीस शारीरिक लक्षण बताये गये हैं। अर्थविनिश्चयसूत्र मे प्रत्येक लक्षण प्राप्ति के लिए पृथक् कर्म विपाक दिया गया है। परन्तु दीघनिकाय मे इन कर्मविपाकों की कुल संख्या बीस ही बताई गई है-१. सदाचार, २. प्रियकारिता, ३. जीवहिंसा त्याग, ४ मधुर भोजनदान, ५. जनसग्राहकता, ६. अर्थधर्मोपदेशदान, ७. सत्कारपूर्वक शिक्षणहित की जिज्ञासा, ८. अक्रोध, ९. वस्त्रदान, १०. परस्पर मैत्री करना-कराना, ११ योग्यायोग्य पुरुष का ध्यान, १२ परहिताकांक्षा, १३. परपीडात्याग, १४ प्रियदृष्टि, १५ सत्कार्य मे अग्रणी, १६. सत्यवादिता, १७ सघर्ष दूर करना, १८. मधुरभाषिता, १९. भावपूर्णवचन, और २०. सम्यक् आजीविका। इन कर्म विपाकों, पारमिताओं तथा तीर्थंकर प्रकृतियों की तुलना करने पर बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।

जैन परम्परा मे तीर्थंकरों के १००८ लक्षण बताये गये हैं। भगवान महावीर के भी उतने ही लक्षण थे। विस्तार भय से हम उन्हें यहां नहीं दे रहे हैं।[७]

महाभिनिष्क्रमण और कैवल्य-साधना

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था मे महाभिनिष्क्रमण किया अर्थात् ५८८-

---

५ तत्त्वार्थ सूत्र, ६,२४

६ नायाधम्मकहाओ ८,७०

७ देखिये लेखक का लेख—तीर्थंकरत्व व बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्तों का तुलनात्मक अध्ययन।

५८७ ई पू में उन्होंने गृहत्याग किया और ५७६-७५ ई. पू. में बारह वर्ष १३ पक्ष बाद केवलज्ञान प्राप्त किया।[८] बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण २६ वर्ष की अवस्था में ५६५-५६४ ई. पू (६२४-६२३—२६) में हुआ अर्थात् महावीर से लगभग सात वर्ष पूर्व बुद्ध ने गृहत्याग किया। परन्तु महावीर और बुद्ध के परमज्ञान की प्राप्ति तक यह अन्तराल १३ वर्ष का हो गया। दोनों महापुरुषों ने अपनी साधना का प्रारम्भ पार्श्वनाथ परम्परा में दीक्षित होकर किया।

महावीर के वर्षावास और विहारस्थल

ठाणांग सूत्र में महापद्मचरित्र के प्रसंग में महावीर के विषय में लिखा है कि मैंने तीस वर्ष गृहस्थावस्था में, बारह वर्ष १३ पक्ष केवलज्ञान-प्राप्ति में और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष धर्म-प्रचार में बिताये।[९] इसके अनुसार महावीर ने ४२ वर्ष निम्न स्थलों में बिताये।

*कैवल्य-साधनाकालीन वर्षावास**

१. कुण्डग्राम, कर्मारग्राम, मोराक सन्निवेश, ज्ञातखण्डवन, कोल्लाग-सन्निवेश, दूइज्जतग, अस्थिकग्राम (वर्षावास)।
२. मोराक, दक्षिण-उत्तर वाचाल, सुरभिपुर, श्वेताम्बी, राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)।
३. कोल्लाग, ब्राह्मणग्राम, सुवर्णखल, चम्पा (वर्षावास)
४. कालाय, कुमाराक, पत्त, चोलाक, पृष्ठचम्पा (वर्षावास)

---

८ वर्तमान में स्थापित मान्यता के अनुसार महावीर एवं बुद्ध के जीवन की प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार हैं—

घटनाएँ	महावीर	बुद्ध
जन्म	५९९ ई० पू०	५८२ ई० पू०
गृहत्याग	५६९ ई० पू०	५५४ ई० पू०
कैवल्य	५५७ ई० पू०	५४७ ई० पू०
निर्वाण	५२७ ई० पू०	५०२ ई० पू०

—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (मुनि नगराज जी) पृ० ११७

९ ठाणांगसूत्र, ठाणा ९, उद्देशक ३, सूत्र ६९३ की वृत्ति, पृ० ४६१।१; धवला में महावीर का केवलिकाल २९ वर्ष ५ माह २० दिन लिखा है।

* देखिये, आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन पृ० ३९४-४०

५. कयंगला, श्रावस्ती, हलिद्दुगा, पूर्णकलश, श्रावस्ती, नगला, राढ़देश, मलय, भद्दिया (वर्षावास)
६. कयली, जंबूसंड, वैशाली, अम्बूसण्ड, कूपिय, ग्रामाक, भद्दिया (वर्षावास)
७. मगध, आलंभिया (वर्षावास)
८. कुण्डाग, बहुसालग, लोहार्गला, गोभूमि, मर्दन, शालवन, पुरिमताल, उन्नाग, राजगृह (वर्षावास)।
९ लाद, सुम्हभूमि, वज्रभूमि (वर्षावास)
१० सिद्धार्थपुर, कूर्मग्राम, वैशाली, वाणिज्यग्राम, श्रावस्ती, (वर्षावास)
११ सानुलट्ठिय, तोसलि, सिद्धार्थपुर, आलभिया, श्रावस्ती, वाराणसी, मिथिला, मलय, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली, (वर्षावास)
१२. सुंसमारपुर, नन्दिग्राम, कौशाम्बी, मेढियग्राम, सुमगल, चम्पा(वर्षावास)
१३. जंभियग्राम, मेढिय, छम्माणि

कैवल्यावस्थाकालीन वर्षावास

१३. ऋजुवालुका, पावापुरी, राजगृह (वर्षावास)
१४. राजगृह, ब्राह्मणकुण्ड, वैशाली (वर्षावास)
१५. वैशाली, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
१६. वाणिज्यग्राम, राजगृह (वर्षावास)
१७. राजगृह, चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
१८. वाणिज्यग्राम, वाराणसी, आलभिया, राजगृह (वर्षावास)
१९. राजगृह (वर्षावास)
२०. राजगृह, आलभिया, कौशाम्बी, वैशाली (वर्षावास)
२१. वैशाली, मिथिला, काकन्दी, कांपिल्यपुर, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)
२२ वैशाली, राजगृह (वर्षावास)
२३. राजगृह, कृतंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
२४ वाणिज्यग्राम, ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह, (वर्षावास)
२५ राजगृह, चम्पा, राजगृह (वर्षावास)
२६ राजगृह, काकन्दी, मिथिला, चम्पा (वर्षावास)
२७ चम्पा, श्रावस्ती, मेढियग्राम, चम्पा, मिथिला (वर्षावास)
२८. मिथिला, हस्तिनापुर, मोका, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
२९. वाणिज्यग्राम, राजगृह (वर्षावास)
३०. राजगृह, पृष्ठचम्पा, चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम (वर्षावास)
३१. वाणिज्यग्राम, कांपिल्यपुर, वैशाली (वर्षावास)
३२ वैशाली, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)

३३. वैशाली, राजगृह, चम्पा, पृष्ठचम्पा, राजगृह (वर्षावास)
३४ राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)
३५ नालन्दा, वाणिज्यग्राम, वैशाली (वर्षावास)
३६ वैशाली, साकेत, वैशाली (वर्षावास)
३७ वैशाली, राजगृह (वर्षावास)
३८ राजगृह, नालन्दा (वर्षावास)
३९ नालन्दा, मिथिला (वर्षावास)
४० मिथिला (वर्षावास)
४१ मिथिला, राजगृह (वर्षावास)
४२ राजगृह, अपापापुरी पावा (निर्वाण) (वर्षावास)

महात्मा बुद्ध के वर्षावास और विहारस्थल

महात्मा बुद्ध ने लगभग ६ वर्ष के बाद बोधि प्राप्त की। इस बीच वे कपिलवस्तु, राजगृह आदि घूमते हुए उरुवेला पहुंचे जहाँ उन्हें बोधि प्राप्त हुई। इसके बाद उन्होंने वर्षावास करना प्रारम्भ किये।

१ वाराणसी, ऋषिपत्तन (वर्षावास)
२ गया, राजगृह (वर्षावास)
३ राजगृह वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह (वर्षावास)
४ कपिलवस्तु, वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह (वर्षावास)
५ वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली (वर्षावास)
६ राजगृह, मकुल पर्वत (वर्षावास)
७ राजगृह, श्रावस्ती, [illegible] (वर्षावास)
८ वाराणसी, राजगृह वैशाली सुंसुमारगिरि [illegible] (वर्षावास)
९ कौशाम्बी (वर्षावास)
१० [illegible] (वर्षावास)
११ [illegible] (वर्षावास)
१२ [illegible] (वर्षावास)
१३ [illegible] (वर्षावास)
१४ [illegible] (वर्षावास)
१५ [illegible] (वर्षावास)
१६ [illegible] (वर्षावास)
१७ [illegible] (वर्षावास)
[illegible]
[illegible]
[illegible]

नालंदा, सामगाम, पावा, वैशाली, कुसीनारा आदि स्थानो पर विहार करते रहे।

४६. राजगृह, वैशाली, पावा, वैशाली (वर्षावास) कुसीनारा (निर्वाण)।

दोनों महापुरुषों का व्यक्तिगत सम्पर्क

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के वर्षावासों और विहार-स्थलो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि दोनों महापुरुषों की विहार भूमि अनेक बार एक ग्राम और नगर रही होगी। श्रावस्ती, राजगृह, नालंदा, कौशाम्बी आदि कुछ ऐसे नगर हैं जहाँ दोनों ने अपने धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। यदि महावीर परिनिर्वाण ५२७ ई. पू. और बुद्ध का परिनिर्वाण ४८३ ई. पू. मानकर चला जाय यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महावीर के निर्वाण हो जाने पर महात्मा बुद्ध ने धर्म क प्रवर्तन किया। परन्तु यह विचार सही प्रतीत नहीं होता। उनका निर्वाण ५०२ पू. में भी नहीं माना जा सकता। सूत्रकृतांग में महावीर के १६वें वर्षावास के य राजगृह में आर्द्रकुमार का बौद्ध भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ होने की घटना का उल्लेख या है।[10] बुद्ध का २२ वाँ वर्षावास भी राजगृह में हुआ। इसी प्रकार और भी नेक प्रसंग हैं। यहाँ इस समय बुद्ध का वर्षावास नहीं होगा, बल्कि बुद्ध के कुछ ष्यों का होगा क्योंकि बुद्ध का वर्षावास इस समय ३२वाँ वर्षावास रहा होगा जो श्रावस्ती में हुआ था।

महापंडित राहुल जी ने बुद्धचर्या को कालक्रम की दृष्टि से सजोने का प्रयत्न या है। तदनुसार धर्मचक्रप्रवर्तन के समय ही बुद्ध की भेंट आजीवक सम्प्रदाय के धु से हुई। हम जानते हैं, आजीवक सम्प्रदाय का संस्थापक मक्खलि गोशालक हावीर के साथ साधनाकाल के १०वें वर्षावास तक रहा। हमारी मान्यता के अनुसार हावीर ने लगभग सात वर्ष बाद गृहत्याग किया जबकि इस समय तक बुद्ध बोधि प्त कर चुके थे। जैन आगमों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि गोशालक का महावीर से रिचय उनकी साधना के द्वितीय वर्ष मे हुआ इसलिए यह भेंट गोशालक से ही रही गी परन्तु आजीवक सम्प्रदाय का उल्लेख सही नहीं लगता क्योंकि इस समय तक सकी स्थापना ही नहीं हुई थी।

बुद्ध जब मकुल पर्वत पर वर्षावास कर रहे थे, उस समय राजगृह के एक श्रेष्ठी ने चन्दन पात्र को सीके पर बांध रखा और उसे दिव्य शक्ति द्वारा उठाने को तीर्थंकरों से कहा। परन्तु अजित केशकम्बली, ककुधकच्चायन, संजयवेलट्ठिपुत्त, निगण्ठ-नातपुत्त व मक्खलि गोशालक ये सभी तीर्थंकर असफल हुए। परन्तु बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज ने उस बर्तन को सरलतापूर्वक उठा लिया। यह सुनकर बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रातिहार्य न करने के लिए शिक्षापद दिया। बाद में बिम्बसार ने बुद्ध से प्रातिहार्य

---

१० सूत्रकृतांग २,६ पद सं० १२५-१२८

करने के लिए कहा क्योंकि उक्त सभी तीर्थिक उन्हें चेलेंज दे रहे थे। यह जानकर बुद्ध ने चार माह बाद प्रतिहार्य करने को कहा। तीर्थिक बुद्ध के पीछे-पीछे चले। उनके साथ वे राजगृह और श्रावस्ती भी पहुँचे। बुद्ध ने अपना प्रातिहार्य प्रसेनजित के समक्ष किया। फलस्वरूप आम की गुठली ने अचानक एक बड़े वृक्ष का रूप ले लिया। तीर्थिक कोई प्रातिहार्य नहीं कर सके। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि निगण्ठ लजाते हुए भाग गये। शक ने बुद्ध की सहायता की। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ निगण्ठनातपुत्त के स्थान पर निगण्ठ (जैन साधु) का उल्लेख है।[११] यहाँ निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व पर भी छींटा-कशी की गई है।[१२] इस घटना से लगता है, बुद्ध और महावीर ने राजगृह और श्रावस्ती में एक साथ ही वर्षावास बिताया। फिर भी वे एक-दूसरे के समक्ष स्पष्ट रूप में नहीं आये।

नालन्दा में भी बुद्ध और महावीर दोनों ने एक साथ वर्षावास किया।[१३] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि महावीर ने श्रमण गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने के लिए अपने प्रधान शिष्य असिबन्धकपुत्त ग्रामणी को भेजा था और उससे यह प्रश्न करने को कहा था कि तथागत जब कुलों की उन्नति और रक्षा की बात करते हैं तो ईतिपूर्ण व सूखे प्रदेश में क्यों विहार करते हैं? बुद्ध के इस प्रश्न के उत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी उनका अनुयायी हो गया। इसी समय बुद्ध ने ग्रामणी से प्रश्न किया कि निगण्ठनातपुत्त अपने श्रावकों को कौन-सा धर्मोपदेश करते हैं? ग्रामणी ने उत्तर में कहा कि हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील आदि कुकृत्य करने वाला दुर्गति पाता है। इसलिए व्यक्ति को इन पापों से बचना चाहिए। इसी उत्तर-प्रत्युत्तर से प्रभावित होकर ग्रामणी बुद्ध का शिष्य हो गया। इस घटना से भी यही लगता है कि बुद्ध और महावीर दोनों ने कभी एक-दूसरे से मिलने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि वे अपने शिष्यों को ही शास्त्रार्थ के लिए भेजते रहे। बुद्ध का एक ही वर्षावास नालन्दा में हुआ। राहुल जी ने उसे ११वाँ बताया परन्तु वह १२वाँ होना चाहिए क्योंकि महावीर ने १२वाँ वर्षावास नालन्दा में किया।

इसी प्रकार की एक घटना वैशाली में हुई। यहाँ भी दोनों महापुरुष उस समय वैशाली में ठहरे हुए थे। सीह ने निगण्ठनातपुत्त से बुद्ध के दर्शन करने को जाने की अनुमति माँगी जिसे निगण्ठनातपुत्त ने अस्वीकार कर दिया यह कहकर कि क्रियावादी होते हुए अक्रियावादी के पास क्यों जाते हो? उत्तर में बुद्ध ने अपने आपको क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों बताया।[१४] सूत्रकृतांग[१५] में भी बौद्धधर्म को

११ चुल्लवग्ग ५; धम्मपद अट्ठकथा ४,२

१२ संयुत्तनिकाय ३.१.१

१३ वही ४०.१ ६

१४ अंगुत्तरनिकाय, ८.१.२२

१५ सूत्रकृतांग, १२ ६—ते चार्वाक बौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते, पृ० २१८

अक्रियावाद मे सम्मिलित किया गया है। बाद में अगुत्तरनिकाय मे भी लिखा है कि सीह बुद्ध का शिष्य हो गया है फिर भी बुद्ध ने सीह को कहा कि चिरकाल से तुम्हारा कुल निगण्ठों के लिए रहा है इसलिए उन्हे दान देना बन्द नहीं करना चाहिए। वहाँ यह भी लिखा है कि सीह ने बुद्ध को मास खिलाया जिसकी घोर निन्दा निगण्ठो ने की।

अन्तगडदसाओ (पृ. ६) मे श्रेणिक के उन पुत्रो और रानियो के नाम दिये हैं जिन्होंने भगवान महावीर से प्रव्रज्या ली थी। पुत्रो मे जालि, मयाली, उववालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहास, अभय, दीर्घसेन, गूढदन्त, शुद्ध दन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिह, सिहसेन, महासिहसेन और पूर्णसेन[१६] ये नाम मिलते हैं। पालि त्रिपिटक मे निगण्ठनातपुत्त के शिष्यों मे सीह, दीघनख, उपालि और अभय का नाम आता है। सम्भव है, ये श्रेणिक के ही पुत्र हों।

मेण्डक नामक गृहपति भी जैन था, जो बाद मे बुद्ध का अनुयायी हो गया, ऐसा पिटक मे कहा गया है।[१७] यह अग देश के भद्दिया नगर का रहने वाला श्रेष्ठि था। बिंबिसार राजा के पाँच अमित भोग सम्पन्न श्रेष्ठि थे—जोतिय, जटिल, मेडक, पुण्णक और काकवलीय।[१८] इसी के पुत्र धनजय श्रेष्ठी की अग्रमहिषी सुमनादेवी के गर्भ से ही विशाखा का जन्म हुआ था। कालांतर मे इसका सम्बन्ध श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी के पुत्र पुण्ड्रवर्धन से हुआ। मृगार निगण्ठो का पूजक था और विशाखा बुद्ध मे अधिक भक्ति रखती थी। मृगार ने निगण्ठों को बुलाया परतु विशाखा ने उनकी कड़ी आलोचना की—नग्नत्व की दृष्टि से। फलस्वरूप मृगार भी बौद्ध हो गया।" यहाँ निगण्ठनातपुत्त का नाम नहीं, निगण्ठो का नाम है। फिर भी यह सत्य है कि अगदेश और श्रावस्ती मे जैन-बौद्ध समान रूप से रहते थे।

शाक्य देश मे भी जैन और बौद्ध दोनो धर्म लोकप्रिय थे। मज्झिम निकाय मे एक उद्धरण है कि शाक्य देशीय देवदह ग्राम मे महात्मा बुद्ध भिक्षुओ से कहते हैं कि निगठों का सिद्धात है कि व्यक्ति जो सुख, दु.ख या अदुःख, असुख अनुभव करता है वह सब उसके पूर्वकृत कर्मों के हेतु से। इन पूर्वकृत कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से और नवीन कर्मों का आस्रव-द्वार बन्द हो जाने से भविष्य मे व्यक्ति परिणामरहित (अनास्रवी) हो जाता है। परिणामरहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से वेदनाक्षय, वेदनाक्षय से सभी दु.ख जीर्ण हो जाते हैं।[२०] इस सिद्धांत को यहाँ

१६ तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० २१
१७ महावग्ग ६.२
१८ धम्मपद अट्ठकथा, ४.८
१६ अगुत्तरनिकाय, अ० कथा, १.७ २
२० मज्झिमनिकाय ३.१.१

अनर्गल आलोचना की गई है। राजगृह में भी बुद्ध ने निगण्ठों के इस सिद्धांत को उन्हीं से सुना था और उसका अनुमोदन भी किया था। यही निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की भी कटु आलोचना महात्मा बुद्ध ने की है।[२१] आनंद ने भी सन्दक परिव्राजक से कौशाम्बी में निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की तीव्र आलोचना की और उसे अनाश्वासिक (मन को संतुष्ट न करने वाला) बताया।[२२]

महात्मा बुद्ध का १७वा वर्षावास राजगृह में हुआ था।[२३] उस समय विभिन्न मतावलम्बियों ने यह जानकर हर्ष व्यक्त किया कि इस बार अंग, मगधों को आध्यात्मिक लाभ मिलने का स्वर्ण अवसर है जो कि राजगृह में पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशालक अजित केशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्र और निगण्ठनातपुत्त वर्षावास के लिए आए हुए हैं। भगवान महावीर का चौथा (१७—१३=४) वर्षावास राजगृह में हुआ। यह जैनागमों से भी ज्ञात होता है।

चम्पा में भी भगवान बुद्ध ने सभी तीर्थंकर की तपस्या की आलोचना की वज्जियं सहित गृहपति से। आलोचना तभी की जाती है जब उस सिद्धान्त का प्रचार अधिक हो जाता है। हम जानते हैं कि चम्पा महावीर की मुख्य विहार-भूमि रही है।

नालन्दा में महात्मा बुद्ध का जब १५ वां वर्षावास हो रहा था, उस समय निगण्ठनातपुत्त भी वहाँ अपनी बड़ी परिषद् के साथ ठहरे हुए थे। तब दीर्घतपस्वी निर्ग्रन्थ बुद्ध के पास पहुँचा। बुद्ध ने पूछा—निगण्ठनातपुत्त पापकर्म के लिए कितने कर्मों का विधान करते हैं। तपस्वी ने उत्तर दिया—कर्म कर्म नहीं, दण्ड दण्ड विधान करना निगण्ठनातपुत्त का नियम है। ये दण्ड तीन प्रकार के हैं, कायदण्ड, वचनदण्ड और मनोदण्ड। इनमें कायदण्ड महादोषयुक्त है। उपालि गृहपति भी महावीर का भक्त था। गौतम के साथ वाद-विवाद करने के लिए महावीर ने उपालि को भेजा। अन्त में कहा गया कि उपालि और दीर्घतपस्वी दोनों बुद्ध के अनुयायी हो गये। यह जानकर महावीर उपालि के पास गये और उससे पूछा—तुम किसके शिष्य हो? उत्तर में उपालि ने बुद्ध की ओर हाथ जोड़कर संकेत किया। इसके आगे तो यहाँ तक बताया गया है कि बुद्ध का सत्कार असह्य हो जाने पर महावीर ने मुँह से उष्ण रक्त उगल दिया।[२४]

इसके बाद दोनों महापुरुषों का विहार राजगृह की ओर हुआ। राजगृह में निगण्ठनातपुत्त ने अभय राजकुमार को गौतम के पास विवाद करने भेजा और कहा कि गौतम से पूछो—क्या भन्ते! तथागत ऐसे वचन बोल सकते हैं जो दूसरों को अप्रिय अमनाप हों? यदि 'हाँ' कहें तो प्रतिप्रश्न करना कि पृथग्जन (साधारण

---

२१ वही, १.२ ८

२२ पुन्नवग्ग, ६ चूलसकुलुदायीसुत्त (राजगृह) में भी सकुल उदायी परिव्राजक ने निगण्ठनातपुत्त के सर्वज्ञत्व की आलोचना की।

२३ मज्झिम निकाय, २.२.६

२४ मज्झिम निकाय, २. २. ६

संसारी जीव) और तथागत मे क्या भेद हुआ ? और यदि उत्तर निषेधात्मक रहे तो कहना, आपने देवदत्त के लिए भविष्य वाणी क्यो की है कि देवदत्त आपायिक है, देवदत्त नैरयिक है, देवदत्त कल्पस्थ है, देवदत्त अचिकित्स्य है । आपके इस वचन से देवदत्त को असंतोष हुआ । गौतम ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि यह एकांतिक (बिना अपवाद के) दृष्टि से नहीं कहा जा सकता । अन्त में अभय बुद्ध का शिष्य बन गया ।[२५]

राजगृह मे ही घटित एक और घटना है । अजातशत्रु मे तत्कालीन सभी तीर्थंकरों से सामञ्ञफल (श्रामण्यफल) पूछा । निगण्ठनातपुत्त ने उत्तर मे चातुर्याम संवर बताया ।[२६] यहाँ ज्ञातव्य है कि चातुर्याम संवर निगण्ठनातपुत्त का नहीं था, पार्श्वनाथ का था ।

राजगृह श्रावस्ती आदि नगरों मे घटित घटनाओ से लगता है, महावीर और बुद्ध दोनों के शिष्य परस्पर मिलते-जुलते थे और वादविवाद भी करते थे । सम्भव है, दोनों महापुरुषों का यहाँ व्यक्तिगत सम्पर्क भी हुआ हो, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं । सूत्रकृतांग के अनुसार आर्द्रक कुमार (महावीर का परम शिष्य) ने शाक्यपुत्रों से वादविवाद किया और उन्हें पराजित किया । अभय राजकुमार, ग्रामणी आदि के भी इस सन्दर्भ मे उल्लेख पीछे हो चुके हैं ।

समान व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले राज-परिवार

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध से समान रूप से व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखने वाले अनेक राजा थे । उस समय की प्रजा भी धर्म सहिष्णु हुआ करती थी । राजाओं मे श्रेणिक, कूणिक (अजातशत्रु), चेटक, चण्ड-प्रद्योत, प्रसेनजित, अभयकुमार आदि ऐसे थे जिन्होंने महावीर और बुद्ध दोनो से समान रूप से सम्पर्क बनाये रखा । यही कारण है कि दोनो जैन और बौद्ध साहित्य उन्हें अपना-अपना बतलाते हैं । महावीर और बुद्ध के व्यक्तिगत सम्पर्क बनने और बिगड़ने मे इन राजाओ की भी पर्याप्त भूमिका रही है । विस्तार के भय से इस प्रसंग को यहाँ उपस्थित करना उचित नहीं होगा ।

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों महापुरुषों के बीच प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कुछ समान घटनायें हुई है और दोनों महापुरुषो का किसी सीमा तक व्यक्तिगत सम्पर्क भी बना रहा है । यद्यपि जैन आगमों मे एतद्विषयक सामग्री लगभग न के बराबर है, परन्तु पालि त्रिपिटक में जैसा भी निगण्ठनातपुत्त के सन्दर्भ मे मिलता है उसे हम पूर्णत. अस्वीकार नहीं कर सकते, भले ही वह पक्षपातपूर्ण रहा हो । इन घटनाओ का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है जब हम बुद्ध को महावीर से ज्येष्ठ मानें और महावीर का परिनिर्वाण ४६-४५ ई० पू० तथा बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४-४३ ई० पू० स्वीकार कर लें । □

---

५ अभय राजकुमार सुत्त, मज्झिम निकाय, ५. १. ८

६ दीघनिकाय, १. १. २

महावीर : बापू के मूल प्रेरणा-स्रोत

भगवान महावीर और बापू अपने युग के क्रांतिकारी महापुरुष थे। उन्होंने समयानुसार जनसमाज में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्रान्ति का बीड़ा उठाया जिसका मूल आधार मानवता का अधिकाधिक संरक्षण करना था। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ था। समूचा भारतवर्ष उनके व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित था। आज भी उनके अनुयायी-जैन प्रत्येक प्रान्त में फैले हुए हैं और देश की अभिवृद्धि करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। विशेषत: गुजरात की पावन वसुन्धरा प्रारम्भ से ही जैन शिक्षा और संस्कृति में अग्रणी रही है। बापू की भी जन्मभूमि होने का उसे सौभाग्य मिला है। फलत: जैन सिद्धान्तों से बापू का प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि : धर्म सहिष्णुता

यद्यपि बापू का सारा परिवार वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी था परन्तु उस पर जैन सम्प्रदाय के आचार-विचार का भी प्रभाव कम नहीं था। महावीर की धर्म-सहिष्णुता का पाठ बापू को अपने पारिवारिक वातावरण से मिला। उनके माता-पिता वैष्णव मन्दिर जाते, शिवालय जाते और राम मन्दिर भी जाते। इसके अतिरिक्त जैनधर्म के आचार्यों और विद्वानों को भी उस परिवार से सदैव आदर-सम्मान मिलता रहा। वे जब भी आते, उनसे धार्मिक तत्त्वचर्चा होती रहती। जैन भिक्षुओं के आने पर उन्हें भिक्षा देकर निश्चित रूप से सम्मानित किया जाता था। भिक्षु बेचरस्वामी तो बापू के परिवार के मानो सलाहकार ही थे। उनकी सलाह-सहमति के बिना प्रायः कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में नहीं लिया जाता था।[1]

रायचन्द भाई : एक आध्यात्मिक गुरु

बापू को बाल्यावस्था से ही जैन संस्कृति का परिवेश मिला है। इसलिए उनके प्रत्येक सिद्धान्त में जैन आचार-विचार का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। उन पर जैन संस्कृति के प्रभाव का उत्तरदायित्व रायचन्द भाई को विशेष रूप से दिया जा सकता है। बापू ने स्वयं एकाधिक बार कहा है कि "मेरे जीवन ... तीन महापुरुषों ने छोड़ा है—टालस्टाय, रस्किन और रायचन्द

गई। [illegible] के [illegible] द्वारा और [illegible] के [illegible], [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] रायचन्द भाई की भी [illegible] स्पष्ट होता है।

यह बात किसी से छिपी नहीं कि महात्मा गांधी जी रायचन्द भाई जैन से और जैनधर्म के एक बहुत प्रशंसक भी थे। आत्मकथा में बापू ने उनके विषय में लिखा है- इनके (रायचन्द भाई) गम्भीर शास्त्रज्ञान, शुद्ध चारित्र्य और आत्मदर्शन की उत्कट लगन का प्रभाव मुझ पर पड़ा। उस समय यद्यपि मुझे धर्मचर्चा में अधिक रस नहीं मिलता था, फिर भी रायचन्द भाई की धर्मचर्चा को मनोयोग से सुनता था, समझता था और उसमें रुचिपूर्वक भाग लेता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे मिलता रहा, परन्तु मुझ पर रायचन्द भाई ने जैसी छाप डाली, वैसी दूसरा कोई नहीं डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तर में उतर जाते। उनकी बुद्धि और सचाई के लिए मेरे मन में आदर था।[२]

रायचन्द भाई बापू के समवयस्क रहे। वे बापू से लगभग दो वर्ष बड़े थे। उनकी माता जैन और पिता वैष्णव थे। प्रारम्भ में उन्हें वैष्णवी वातावरण मिला परन्तु शीघ्र ही वे जैनधर्म की ओर झुक गए और अल्पावस्था में ही पूर्ण जैन हो गए। बापू से जैन हो जाने के बाद ही उनका सम्पर्क हुआ होगा। दोनों का यह सम्पर्क सन् १८९१ में हुआ।

रायचन्द भाई पर गांधी जी को बहुत विश्वास था। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है—"मैं जानता था कि वे (रायचन्द भाई) मुझे जानबूझकर गलत रास्ते नहीं ले जावेंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनका आश्रय लेता।"

अफ्रीका में ईसाई सज्जनों ने उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि गांधीजी का वैदिक धर्म में विचिकित्सा पैदा हो गई। उसे दूर करने के लिए उन्होंने यहां रायचन्द भाई से पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर से बापू को सन्तोष हुआ और यह विश्वास आ गया कि वैदिक धर्म में उन्हें जो भी चाहिए, मिल सकता है। इससे पता चलता है कि बापू के मन में रायचन्द भाई के प्रति कितना सम्मान रहा होगा।

कवि रायचन्द जी के सम्पर्क से बापू को जैन सिद्धान्तों के विषय में भी पर्याप्त जानकारी हो गई थी। फलत. उनका आध्यात्मिक मानस जैन सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। महावीर द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक अहिंसा की पृष्ठभूमि में उनके प्रायः सभी आचार-विचार जागरित हुए। रायचन्द भाई के उद्बोधन के

---

२ वही, पृ० १६६

कारण बापू जी दक्षिण अफ्रीका में अनेक अवसर आने पर भी धर्म से विचलित नहीं हो पाये। दोनों महापुरुषों के बीच पत्राचार अन्त तक चलता रहा। रायचन्द भाई ने बापू को पुस्तकें भी भेजीं जिनका उन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। उन पुस्तकों में पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठका, मुमुक्षुप्रकरण एवं हरिभद्रसूरि का षड्दर्शन समुच्चय प्रमुख थीं।

अपरिग्रहशीलता

बापू अपरिग्रहशीलता की प्रतिमूर्ति थे। जैनधर्म के अनुसार वीतरागी और अपरिग्रही व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है। बापू इसे अच्छी तरह जानते थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि बाह्याडम्बर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। शुद्ध वीतरागता में ही आत्मा की निर्मलता है। यह अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकती है। रोगों को निकालने का प्रयत्न करने वाला यह जानता है कि रोग रहित होना कितना कठिन है। मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जब तक जगत की एक भी वस्तु में मन रमा है तब तक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा लगती भी हो तो केवल कानों को। ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थ के समझे बिना किसी संगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। इस प्रकार की केवल कर्णप्रिय क्रीड़ा में व्यर्थ समय निकल जाता है और मोक्ष का अनुकूल आचरण-पथ दूर होता चला जाता है। वस्तुतः आन्तरिक वैराग्य के बिना मोक्ष की लगन नहीं होती। इस वैराग्य की अपूर्व दशा से बापू पूर्ण प्रभावित रहे हैं।

सर्वधर्म-समभाव

बापू जी को सर्वधर्मसमभावी बनने का वातावरण बाल्यावस्था में ही मिल चुका था। रायचन्द भाई से घनिष्ठता होने पर उनके विचारों में और भी दृढ़ता आई। आत्मकथा में उन्होंने लिखा है—"शंकर हो या विष्णु, ब्रह्मा हो या इन्द्र, बुद्ध हों या सिद्ध, मेरा शिर तो उसी के आगे झुकेगा जो राग-द्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो और जो अहिंसा और प्रेम की प्रतिमा हो।" गांधी जी की यह सर्वधर्म समभाविता निश्चित ही जैनधर्म की देन है। जैनधर्म में रागादिक अष्टादश दोषों से विरहित व्यक्ति ही वन्दनीय होता है। इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र का श्लोक स्मरण आता है जिसमें उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि से वीतरागी और तर्कसिद्ध मार्गों को नमन करने की प्रतिज्ञा की है चाहे वह तीर्थंकर हो या अन्य कोई विचारक।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

धर्म की व्याख्या

धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैनधर्म में उन अर्थों में से कर्त्तव्य रूप अर्थ का अधिक विश्लेषण किया गया है। गांधी जी ने रायचन्द भाई के माध्यम से धर्म को इसी रूप में समझा था। उन्होंने आत्मकथा में इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार किया है।

तथा वैसे पदार्थ जहां खरीदे बेचे जाते है वहां रहने अथवा जाने-आने के प्रसंग नहीं आने देना चाहिए। अन्यथा अपेक्षित दया भावना सुप्त होने लगती है। अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से भी दूर रहना चाहिए।

मांसादि भक्षण से अरुचि

बापू को मांस-भक्षण से बड़ी अरुचि थी। विदेश जाने के पूर्व जैनधर्मावलम्बी बेचरस्वामी के माध्यम से बापू की मां ने उन्हें तीन प्रतिज्ञायें दीं—मांसाहार, मद्यपान और स्त्रीगमन त्याग। बापू ने आत्मकथा में स्वयं लिखा है कि "मांसाहार से उनके विमुख रहने का कारण जैनधर्म का प्रभाव रहा है। गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह, हर प्रवृत्ति में पाया जाता है। इसलिए मांसाहार का जो विरोध, जैसा तिरस्कार गुजरात में जैनों तथा वैष्णवों में दिखाई देता है वैसा भारत या अन्य देशों में कहीं नहीं दिखाई देता। मैं इन्हीं संस्कारों में पला था।" गांधीजी ने उक्त तीनों प्रतिज्ञायें आजीवन बड़ी सफलतापूर्वक निभायीं।

सर्वोदयवादिता

गांधीजी पक्के सर्वोदयवादी थे। उनका हर सिद्धान्त सर्वोदयवाद की नींव पर निर्मित था। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास में उन्होंने रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक पढ़ी जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। बापू ने उसका हिन्दी-गुजराती अनुवाद 'सर्वोदय' नाम से किया। सर्वोदय शब्द का प्रचार यहीं से प्रारम्भ हुआ है।

सर्वोदय शब्द के इतिहास पर यदि हम ध्यान दें तो हमें यह स्पष्ट होगा कि उसका सर्वप्रथम प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है। प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति 'युक्त्यनुशासन' में इस प्रकार की है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

यहां 'सर्वोदय' शब्द द्रष्टव्य है। सर्वोदय का तात्पर्य है—सभी की भलाई। महावीर के सिद्धान्तों में सभी की भलाई निहित है। उसमें परिश्रम और समान अवसर का भी लाभ प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है। बापू के लिए यह शब्द निश्चित ही जैनधर्म और साहित्य से प्राप्त हुआ होगा।

हरिजन प्रेम

जैनधर्म में कर्म का महत्त्व है, जाति का नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्म उसका उत्तराधिकारी है। जाति के बन्धन से किसी की प्रतिभा और श्रम पर कुठाराघात नहीं किया जा सकता। बापू ने महावीर के इस सिद्धान्त को अक्षरशः समझा और उसे जीवन-क्षेत्र में उतारने का प्रयत्न किया। हरिजनों की परिस्थितियों के विश्लेषण का

भी यही मानदण्ड उन्होंने बनाया था। हरिजन समाज के उद्धार के पीछे उनकी यही मनोभूमिका थी। उसे हम उत्तराध्ययन की निम्न गाथा मे देख सकते हैं—

कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

राजनीति मे सत्य-अहिंसा का प्रयोग

महात्मा गाधी सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। उन्होने जीवन के विकास के ग्यारह नियम बनाये थे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभाव, अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम, सर्वधर्मसमभाव और स्वदेशी। सत्य-अहिंसा मे इन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी नियम जैनधर्म मे मिलते हैं।

बापू ने अहिंसा का अर्थ किया है—प्रेम का समुद्र और वैरभाव का सर्वथा त्याग। उनकी दृष्टि मे अहिंसा वही है जिसमे दीनता और भीरुता न हो, डर-डर के भागना भी न हो। वहाँ तो दृढ़ता, वीरता और निश्चलता होनी चाहिए।

सत्य और अहिंसा का सफल प्रयोग बापू ने राजनीति के क्षेत्र मे भी किया। इतिहास में शायद यह प्रथम अवसर था कि जब सत्य और अहिंसा के बल पर इतना बड़ा स्वातन्त्र्य संग्राम लड़ा गया हो। उन्होंने सत्याग्रह का मूल सत्य और आत्मा की अन्तःशक्ति को स्वीकार किया है। इसलिए राजनीतिक संघर्ष को उन्होने 'आत्मिक राजनीति' नाम दिया।[3] अत. उनकी अहिंसा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और देश-विदेश की समस्याओ का हल करने का एक अनुपम उपकरण था।

सत्य और परमेश्वर

परमेश्वर के स्वरूप को बापू ने अनादि, अनन्त, ज्ञानरूप और वचन अगोचर माना है। उसके साक्षात्कार को जीवन का ध्येय स्वीकार किया है। जीवन के दूसरे सब कार्य इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए होने चाहिए।[4] बापू के अनुसार परमेश्वर के लिए एक छोटे शब्द का प्रयोग करना चाहे तो हम सत्य कह सकते हैं।[5]

निष्काम कर्मठता

बापू निष्काम कर्मठता की प्रतिमूर्ति थे। जैनधर्म का हर सिद्धान्त निष्काम कर्मठता की शिक्षा देता है। बापू को यह शिक्षा बाल्यावस्था से ही प्राप्त हुई थी जिसका उपयोग उन्होंने बाद मे स्व-पर की समस्याओ को समाधानित करने की दिशा मे किया।

गौरीशंकर भट्ट ने लिखा है—"स्वातन्त्र्य संग्राम की प्राप्ति मे निष्काम कर्मठता की आवश्यकता होती है। यह निष्काम कर्मठता गांधीजी को जैनधर्म से मिली। गांधी जी की सम्पूर्ण विचारधारा पारलौकिक धर्म से प्रभावित है पर उनका उत्तम पुरुष

---

३ गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव, पृ० २३६
४ गांधी विचार दोहन, पृ० १
५ गांधी विचार दोहन, पृ० ३६

तथा वैसे पदार्थ जहाँ खरीदे बेचे जाते हैं वहाँ रहने अथवा जाने-आने के प्रसंग नहीं आने देना चाहिए। अन्यथा अपेक्षित दया भावना लुप्त होने लगती है। अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से भी दूर रहना चाहिए।

मांसादि भक्षण से अरुचि

बापू को मांस-भक्षण से बड़ी अरुचि थी। विदेश जाने के पूर्व जैनधर्मावलम्बी बेचरस्वामी के माध्यम से बापू की माँ ने उन्हें तीन प्रतिज्ञायें दीं—मांसाहार, मद्यपान और स्त्रीगमन त्याग। बापू ने आत्मकथा में स्वयं लिखा है कि "मांसाहार से उनके विमुख रहने का कारण जैनधर्म का प्रभाव रहा है। गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह, हर प्रवृत्ति में पाया जाता है। इसलिए मांसाहार का जो विरोध, जैसा तिरस्कार गुजरात में जैनों तथा वैष्णवों में दिखाई देता है वैसा भारत या अन्य देशों में कहीं नहीं दिखाई देता। मैं इन्हीं संस्कारों में पला था।" गांधीजी ने उक्त तीनों प्रतिज्ञायें आजीवन बड़ी सफलतापूर्वक निभायीं।

सर्वोदयवादिता

गांधीजी पक्के सर्वोदयवादी थे। उनका हर सिद्धान्त सर्वोदयवाद की नींव पर निर्मित था। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास में उन्होंने रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक पढ़ी जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। बापू ने उसका हिन्दी-गुजराती अनुवाद 'सर्वोदय' नाम से किया। सर्वोदय शब्द का प्रचार यहीं से प्रारम्भ हुआ है।

सर्वोदय शब्द के इतिहास पर यदि हम ध्यान दें तो हमें यह स्पष्ट होगा कि उसका सर्वप्रथम प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है। प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति 'युक्त्यनुशासन' में इस प्रकार की है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

यहाँ 'सर्वोदय' शब्द द्रष्टव्य है। सर्वोदय का तात्पर्य है—सभी की भलाई। महावीर के सिद्धान्तों में सभी की भलाई निहित है। उसमें परिश्रम और समान अवसर का भी भाव प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है। बापू के लिए यह शब्द निश्चित ही जैनधर्म और साहित्य से प्राप्त हुआ होगा।

हरिजन प्रेम

जैनधर्म में कर्म का महत्त्व है, जाति का नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्म उसका उत्तराधिकारी है। जाति के बन्धन से किसी की प्रतिभा और श्रम पर कुठाराघात नहीं किया जा सकता। बापू ने महावीर के इस सिद्धान्त को यथार्थतः समझा और उसे जीवन-क्षेत्र में उतारने का प्रयत्न किया। हरिजनों की परिस्थितियों के विश्लेषण का

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भगवान महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्तों से प्रेरित थे। यह रायचन्द भाई के ही सम्पर्क का परिणाम था। वैष्णव होते हुए भी उनका समूचा जीवन आत्ममूलक जैन आदर्श का जीवन था। महावीर की लोक-कल्याणकारी भावना ने बापू के साधनाशील जीवन को आलोकित किया। इसी भावना से उन्होंने आत्मकल्याण करते हुए भारत में स्वतन्त्रता का पुनीत दीपक जलाया और मातृभूमि के हाथों से परतन्त्रता की कठोर शृङ्खलायें छिन्न-भिन्न कर सारे विश्व में अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित किया।

☆

पूर्णतः लौकिक और इहजनी है। उनके विचार जहाँ अहिंसा और अपरिग्रह की भावना से ओतप्रोत है वहाँ लोककल्याण की भावना भी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। सत्याग्रह इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है। सत्यकाम के लिए गरीब अहिंसात्मक आग्रह और असत्य धर्म के प्रति निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग उनकी मूल भावना थी। सत्याग्रही होने के लिए आत्मशुद्धि, मन-वचन तथा कर्म शुद्धि व सत्यनिष्ठ निष्पक्ष भावना अपेक्षित है। आत्म-नियन्त्रण, अहिंसा, दृढ़निश्चय व अपरिग्रह ये चार सत्याग्रह के मूल हैं। सत्याग्रह के साथ लोकसंग्रह की भावना निहित है।[६]

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

वस्तुतत्त्व को समझने और विभिन्न मतों में आदरपूर्वक समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से बापू ने जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को आत्मकथा में समझाने का प्रयत्न किया है। ये दोनों सिद्धान्त अहिंसा भावना पर अवलम्बित हैं। बापू ने कहा है—"जब कभी अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी तो अवश्य अहिंसा के महान् प्रवर्तक भगवान महावीर की याद सबसे अधिक होगी और उनकी बताई अहिंसा का सबसे अधिक आदर होगा।"

जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं, वह तो प्राणिमात्र का धर्म है। उस पर किसी जाति, वर्ग अथवा देश का अधिकार नहीं। उसमें तो सभी एकान्तिक मतों को अनेकान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

गांधीवाद भी किसी फिरका, पन्थ अथवा सम्प्रदाय विशेष को लिए हुए नहीं है। उसमें विभिन्न धर्मों से उत्तम प्रकार की शिक्षाओं को एकत्रित किया गया है। अतः समूचे रूप में वह जैनधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। इसलिए उन्होंने अपने हिन्दूधर्म को आत्मोन्नति में कहीं बाधक भी नहीं माना। धर्मान्तरण करने की भी आवश्यकता बापू ने नहीं समझी।[७]

गांधीजी ने यद्यपि अपने पीछे कोई पन्थ नहीं छोड़ा, फिर भी आज उनके विचारों और उपदेशों को गांधीवाद कहा जाने लगा है। उसमें सत्य और अहिंसा की रक्षा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के संघर्ष में न पड़कर बल्कि अपनी आवश्यकताओं को घटाकर आध्यात्मिक सन्तोष पाने का प्रयत्न बताया गया है।[८] व्यक्ति और समाज के प्रयत्नों का लक्ष्य भौतिक समृद्धि समझना गांधीवाद के अनुसार चाण्डाल सभ्यता है। इस सभ्यता से मनुष्य धर्म और ईश्वर को भूल जाता है।[९]

---

६ भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय समीक्षा

७ गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर, पृ० ४६६

८ गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल

९ हिन्द स्वराज्य, पृ० ५०-५१

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भगवान महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्तों से प्रेरित थे। यह रायचन्द भाई के ही सम्पर्क का परिणाम था। वैष्णव होते हुए भी उनका समूचा जीवन आत्ममूलक जैन आदर्श का जीवन था। महावीर की लोक-संग्रही भावना ने बापू के साधनाशील जीवन को आलोकित किया। इसी भावना से उन्होंने आत्मकल्याण करते हुए भारत मे स्वतन्त्रता का पुनीत दीपक जलाया और मातृभूमि के हाथो से परतन्त्रता की कठोर शृङ्खलायें छिन्न-भिन्न कर सारे विश्व मे अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित किया।

☆

परिशिष्ट

ग्रन्थ गत शब्द-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

अट्ठशालिनी—स० पी०व्ही० बापट, पूना, १९४२

अर्थविनिश्चय सूत्रम्—स० एन० एच० सामतानी, काशीप्रसाद जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, १९७१

अथर्ववेद—अर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि०सं० १९८६

अभिधान राजेन्द्रकोष—आचार्य विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम, १९१३-१४

अष्टपाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वी०नि०स०२४५०

अष्टसहस्री—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

अभिधम्मत्थसंगह—भिक्षु रेवत, वाराणसी

आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान—नलिनाक्ष दत्त, लन्दन, १९३०

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—मुनि नगराज, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९६९

आचारांगसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६३-६४

आचारांगचूर्णि—जिनदास गणि, ऋषभ देवकेसरीमल संस्था, रतलाम, १९४१

आत्मकथा—अनुवादक, पोद्दार, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

आदिपुराण—आचार्य जिनसेन, स० प० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६३

आप्तमीमांसा—सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी

आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति—मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ—चौधरी गुलाबचन्द्र, ब्यावर

आवश्यकचूर्णि—ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, १९२८

इण्डियन एण्टिक्वेरी

उत्तरपुराण—आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४

उत्तराध्ययन—अनु० आत्माराम मुनि, जैनशास्त्रमाला, लाहौर, १९२६

उवासगदसाओ—व्याख्याकार, आत्मारामजी, लुधियाना

ऋग्वेद—स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४०

ऋषभदेव और शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यतायें—राजकुमार जैन, मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, ब्यावर

औपपातिक—अभयदेवसूरिवृत्ति सहित, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत, १९३७

अंगुत्तरनिकाय—स० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य, १९६०

कत्तिगेयाणुवेक्खा—स० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

कल्पसूत्र—सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर

कषायपाहुड—आ० गुणधर, भाग १, स० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, दि० जैन संघ, मथुरा, १९४४

कहावली—भद्रेश्वर, स० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतु शतकम्—स० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—प० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमा विकार—बेचरदास दोषी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य मे भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
ठाणागसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन सघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलकदेव, स० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी०नि०स० २४७७
तिलोयपण्णति—आचार्य यतिवृषभ स० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर १९०६-१९१३
थेरगाथा—स० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य, १९५६
दर्शनसार—देवसेनाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०
द्रव्यसग्रह—नेमिचन्द्र स० दरबारीलाल कोठिया, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६
दशवैकालिक—स० आ० तुलसी, तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९६३
दशवैकालिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन
दिव्यावदान—स० पी० एल० वैद्य, मिथिला सस्थान, दरभगा
दीघनिकाय—स० जगदीश काश्यप, बिहार सरकार, १९५६

धम्मपद अट्ठकथा—स० एच०सी० नारमन
धम्मसंगणि—स० पी० व्ही० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—स० दलसुख मालवणिया, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०स० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—स० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१६
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—स० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन्—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पापसमीक्षा—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, स० धर्मानन्द कौशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन में घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रचारक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल १९६२
महावीर चरिय—नेमिचन्द्र, आत्माराम सभा, भावनगर १९२९
मज्झिमनिकाय—स० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावस्तु—सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह—स० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

कहावली—भद्रेश्वर, सं० डॉ० यू० पी० शाह, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, केम्ब्रिज, १९७२
गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव—काका कालेलकर
गांधीवाद की शव परीक्षा—यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ
चतुःशतकम्—सं० डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
चार तीर्थंकर—पं० सुखलाल संघवी
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९२०
जैनधर्म का मौलिक इतिहास—आ० हस्तिमल, जयपुर १९७१, १९७४
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—डॉ० मेहता, चौधरी गुलाबचन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
जैन साहित्यमां विकार—बेचरदास दोषी
जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा
जैनागम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
ठाणांगसूत्र—व्याख्याकार—अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
तत्त्वार्थभाष्य—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०६
तत्त्वार्थ वार्तिक—अकलंकदेव, सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १९५७
तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, अनु० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा वी० नि० सं० २४७७
तिलोयपण्णत्ति—आचार्य यतिवृषभ सं० डॉ० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५-१९१३
दीघनिकाय—सं० [illegible] काश्यप, बिहार राज्य, १९५८
दर्शनसार—[illegible], जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सं० [illegible] कोठिया, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, १९६६
[illegible]—[illegible], [illegible], १९५३
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible], १९५३
[illegible]—सं० [illegible], बिहार [illegible], १९५६

धम्मपद अट्ठकथा—स० एच०सी० नारमन ..
धम्मसंगणि—स० पी० व्ही० बापट, पूना १९४०
न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—स० दलसुख मालवणिया, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०स० २००५
नन्दीसूत्र—व्याख्याकार, आत्माराम जी, लुधियाना, १९६६
नायाधम्मकहाओ—सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदाबाद १९६४
पञ्चास्तिकाय—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१९
प्रमाण परीक्षा—सनातन जैन ग्रन्थमाला
प्रमाणवार्तिक—सं० राहुल सांकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान, पटना, वि०सं० २०१०
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५
प्रश्नव्याकरणसूत्र—व्याख्याकार अमोलक ऋषि, जैन संघ, हैदराबाद
परिशिष्टपर्वन्—आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० जेकोबी, कलकत्ता, १९३२
परीक्षामुख—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पातंजलयोग—गोरखपुर
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
बुद्धचरित—अश्वघोष, स० धर्मानन्द कोशाम्बी, अहमदाबाद १९३७
बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना १९५६
बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन नागपुर
भगवान महावीर—दलसुख मालवणिया
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवान महावीर के जीवन मे घटित चामत्कारिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, तुलसी प्रज्ञा, १९७६
भगवतीसूत्र—अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, जिनागम प्रकाशक सभा, अहमदाबाद १९२२-३१
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७
भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय व्याख्या
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल १९६२
महावीर चरित्र—नेमिचन्द्र, आत्मानन्द सभा, भावनगर १९२६
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, बिहार राज्य १९५८
महावग्ग—सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७
मिलिन्दपञ्ह—स० आर० डी० वडेकर, बम्बई १९४०
मूलाचार—मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, १९१९

—: लेखक-परिचय :—

जन्म :—१ जनवरी १९३९

जन्म स्थान :—बम्हौरी (छतरपुर) म० प्र०

शिक्षा स्थान :—गणेश जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, तथा विद्योदय विश्वविद्यालय, श्रीलंका।

शिक्षा :—एम ए (संस्कृत, पालि, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति) साहित्याचार्य, शास्त्री, साहित्य-रत्न, पी-एच डी (सीलोन) आदि।

वर्तमान में :—अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग एवं अध्यापक संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग के रूप में नागपुर विश्वविद्यालय नागपुर में १९६५ से कार्यरत।

प्रकाशित पुस्तकें :—1-Jainism in Buddhist Literature

२. बौद्ध संस्कृति का इतिहास

३ चतुःशतकम् (सम्पादन-अनुवादन)

४ पातिमोक्ख (संपादन-अनुवादन)

५ पालिकोस संगहो (संपादन)

६. जैन धर्म और संस्कृति

७ लगभग अस्सी शोध निबन्ध

प्रकाशन :—१. जैन संस्कृति का इतिहास

२ पालि भाषा और साहित्य का इतिहास

३ प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास

४ अभिधम्मत्थ संगहो (अनुवाद)

५. कविता संग्रह

सम्पादन :—रत्नत्रय (मासिक पत्रिका) कोल्हापुर

सामाजिक सेवा :—अनेक संस्थाओं के कर्मठ कार्यकर्ता, [illegible]ध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा सचिव आदि पदों पर